૬૨૧૫
૧૦|૨|૬૦

८२१५
१०।५।६०

८२१५
१०।५।८०

सम्पादक
इन्द्रनाथ मदान
हिन्दी विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी
चण्डीगढ़

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली : पटना

शुद्धि-पत्र

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	वायवो	वायवी
१३	वात्यान्दलन	वात्यान्दोलन
१७	आधार	अधिकार
६	निज	निजी
१५	प्रति	प्रति सूक्ष्म का
१५	आदि	आदि।
१६	वायवी	वायवी
१४	नवीन	नवेन
३	को	की
२६	शोषित	शोषक
१७	को	की
२२	है	×
२६	का	ने
८	काव्य-वेदना	काव्य-संवेदना
११	अनेक	नवेन
१८	इनकी	इनके
४	स्थापन	स्थापना
१४	पुरुषार्थीता	[illegible]
१४	स्वयं	स्वयं को
नाम	[illegible]	[illegible]
शीर्षक	[illegible]	[illegible]
हिसाब	जगदीश चतुर्वेदी	[illegible]
हिसाब	[illegible]	[illegible]
हिसाब	केदारनाथ अग्रवाल	[illegible]
शीर्षक	[illegible]	[illegible]

अपनी बात

इन संकलन की सीमाओं का संकेत मैं इसलिए कर रहा हूँ कि उपलब्धियों की बात करना तो सब जानते हैं। पहली सीमा कविताओं के चयन की है। पूरी कोशिश करने के बाद भी कविताएँ और भी हैं जो आ सकती थीं। कुछ इसलिए छूट गयी हैं कि इन्हें देने की अनुमति नहीं मिल सकी। कुछ मेरी आँखों से ओझल रह गयी होंगी और कुछ मेरे दृष्टि-दोष के कारण छूट सकती हैं। और कुछ इसलिए भी कि संकलन का आकार भी सीमित है। मुझे यह स्वीकारने में संकोच नहीं है कि कविताओं का चयन मेरा अपना है और इस तरह के हर चयन की यह सीमा होती है।

इस संकलन को तैयार करने का उद्देश्य उन कविताओं को देने का है जो रचना की दृष्टि से संश्लिष्ट हों या जिन में बहुत कम दरारें हों। इन कविताओं का संकलन करते-करते मुझे लगा है कि छायावाद या इसके पहले नामवर कवि हैं और इसके बाद कविताएँ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या-सिंह उपाध्याय आदि नामवर कवियों को इसलिए छोड़ना पड़ा है कि खोजने पर भी इनकी कविताएँ नहीं मिल सकीं। इसका दोषी मुझे ठहराया जा सकता है। लेकिन मुझे बड़ा खेद भी है। इस तरह लीक से हटने का कारण उद्देश्य की विवशता है। यह उद्देश्य भी कभी पूरा नहीं हो सकता। यह अधूरा इस-लिए है कि कविता की रचना जारी है। इस संकलन का 'कविता और कविता' नाम भी इस प्रक्रिया को सूचित करने की दृष्टि से रखा गया है।

५९५, सेक्टर १८,
चण्डीगढ़—१८।

—इन्द्रनाथ मदान

विषय-सूची

१-४९ आधुनिक कविता

५१-७६ : खंड एक :: छायावाद के पहले

गयाप्रसाद शुक्ल सनेही

कोयल ५३

चले ५३

गुरुभक्त सिंह

मेहर का सावन ५५

बंदीगृह में ५६

गोपालशरण सिंह

चितचोर ५८

अकेला ५८

खोज ५९

बालिका ६०

सागरिका ६१

माखनलाल चतुर्वेदी

पुष्प की अभिलाषा ६३

मोम-दीप ६३

रामनरेश त्रिपाठी

विधवा का दर्पण ६६

सियारामशरण गुप्त

अब न करूँगी ऐसा ६९

एक क्षण ७१

क्षणिक ७३

श्रीधर पाठक

व्योमबाला ७४

सान्ध्य-अटन ७५

७७-१८८ : खण्ड दो :: छायावाद

जयशंकर प्रसाद

ले चल वहाँ ७९

मेरे दीपक ११३
जीवन ११५
दुख की बदली ११६
अन्तिम वेला ११६
रामकुमार वर्मा
नश्वर स्वर ११८
अनन्त शृंगार १२०
आत्म-समर्पण १२१
रामधारी सिंह दिनकर
पुरुरवा १२३
रामानन्द दोषी
तुम अपनी पीर सम्हालो १२६
असमंजस १२७
रामावतार त्यागी
कलाकार का गीत १३०
सितारे जागते १३१
रामेश्वर शुक्ल अंचल
अनमनी १३३
शरद निशा १३५
रामेश्वरी देवी चकोरी
एक घूंट १३७
प्रतिरोध १३८
प्रभात १३९
वीरेन्द्र मिश्र
मेरे मन १४१
रो-रो कर १४२
दूरी और निकटता १४३
सुमित्रानन्दन पंत
प्रथम रश्मि १४५
मौन-निमंत्रण १४७
'ग्रंथि' से १४८

अचरज	२०२
हरी घास पर क्षण भर	२०३
कलगी बाजरे की	२०७
दफ्तर : शाम	२०९
सत्य तो बहुत मिले	२०९
साँप	२११
नया कवि : आत्म-स्वीकार	२११
उदयशंकर भट्ट	
विद्रोही	२१३
अनुभूति	२१६
उपेन्द्रनाथ अश्क	
अप्रैल की चाँदनी	२१७
यह आक्रोश, यह अह .	२१९
ओम प्रभाकर	
अब मैं केवल	२२१
कान्ता	
मेरी आँखों में रोज	२२३
अनगढ़ रचना में	२२४
कीर्ति चौधरी	
सुख	२२५
क्यों ?	२२६
मैं प्रस्तुत हूँ	२२७
कुँवर नारायण	
चक्रव्यूह	२३०
मूल्य	२३१
दूरी के पास	२३२
वसन्त की एक लहर	२३३
दो बत्तखें	२३४
जरूरतों के नाम पर	२३५
कुमार विकल	
बायस्कोप	२३६
चम्बा की धूप	२३७

आत्महत्या—एक अनुभूति २८१
धुआ-धाम-ज्योत २८२
जगदीश चतुर्वेदी
कुछ कुरेदना है २८५
नग्नहीन-नगर २८६
दुष्यंत कुमार
मोम का घोड़ा २८८
विसर्जित कुंठा २८९
दूधनाथ सिंह
अभिमान २९१
देवराज
एक घटना घटी २९२
मित्र का मत्स्यागेट २९३
देवेन्द्र कुमार
जो पागल है २९५
आइने में हम २९६
धर्मवीर भारती
डोले का गीत ३००
फूल, मोमबत्तियाँ, सपने ३०१
सम्पाति ३०२
विप्रलब्धा ३०४
गान्धारी का शाप ३०५
नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी
यश की वीथियाँ तृप्ति के नर्म ३०७
नरेश मेहता
ज्वार गया, जलयान गये ३०८
ये हरिण-सी बदलियाँ ३०९
अनुनद ३११
नागार्जुन
कालिदास के प्रति ३१३
वे और तुम ३१४

जो कह डाला	३६०
कोशिश	३६१
दे दिया जाता हूँ	३६२
रमा सिंह	
अच्छा ही हुआ	३६५
वशीकरण	३६६
रवीन्द्र भ्रमर	
बदलते संदर्भ	३६८
राजकमल चौधरी	
नींद में भटकता हुआ आदमी	३६९
राजीव सक्सेना	
अस्तित्व का गीत	३७१
राजेन्द्र किशोर	
तेइसवीं वर्षगाँठ	३७७
अधपढ़ा उपन्यास और मैं स्वत	३७९
रामदरश मिश्र	
छोटी-छोटी चीजें	३८०
प्रवाह	३८१
लक्ष्मीकान्त वर्मा	
यदि मैं मेयर होता	३८३
एक गाथा	३८४
महानगर : एक अनुभूति	३८५
विपिन कुमार अग्रवाल	
स्वीकृति	३८६
सफर	३८६
बादशाह	३८७
सतीश कुमार	
आस्था	३८८
सतीशचंद्र चौबे	
रोशन हाथों की दस्तकें	३८९
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	
खाली समय में	३९०

आधुनिक कविता

१. आधुनिक कविता के बारे में शायद कविता से अधिक लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। इसका मूल्यांकन अभी तक एक समस्या इसलिए है कि जब कभी युग का बोध बदलने लगता है या बदल जाता है तब साहित्य का मूल्यांकन भी बदले हुए संदर्भ में होने लगता है। आधुनिक कविता के मूल्यांकन के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों को उठाया जा सकता है—आधुनिक कविता किसे माना जाए या किन रचनाओं को आधुनिक कविता का नाम दिया जाए, इसका वास्तविक स्वरूप क्या है; इसकी मूल संवेदना, यदि यह है, तो क्या है, इसका सूत्रपात कब हुआ है, इसकी उपलब्धि तथा सीमा क्या है? इन प्रश्नों के परस्पर-विरोधी-उत्तर दिये गए हैं जो आरोपित मानदंडों के परिणाम हैं। अगर सबसे पहले यह प्रश्न उठाया जाए कि किन रचनाओं को आधुनिक कविता की संज्ञा देना उचित है तो मूल्यांकन का आधार ठोस बन सकता है, अन्य प्रश्नों के उत्तर वायवी होने से बच सकते हैं। इस समय आधुनिक कविता में छायावाद एक ऐसा काव्यान्दोलन है, जिसे निश्चित रूप में स्वीकृति मिल चुकी है। यदि छायावाद से पहले और छायावाद के बाद की कविता को भी आधुनिक कविता का नाम देना है तो इसका आधार क्या हो सकता है। इसका आधार शायद यह हो सकता है कि यह कविता हिन्दी की आदिकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन काव्य से अलग होने का दावा करती है। यह शायद इसलिए कि इन तीन कालों की रचनाओं में मध्यकालीन बोध है और यह बोध आधुनिक बोध से भिन्न कोटि का माना जाता है। आधुनिक कविता में प्राय. आधुनिक बोध है और प्राय इसलिए कि इसमें कभी मध्यकालीन बोध की अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है तो कभी इससे सामंजस्य का प्रयास। बात जितनी सरल है उतनी ही जटिल। मध्यकालीन बोध क्या है, यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है जिसका उत्तर अभी पूरी तरह नहीं दिया गया है। यह बोध स्वयं में जितना पूरा है उतना ही इसका निरूपण अभी तक अधूरा है। इसकी भी निजी प्रक्रिया रही है जिसका विवेचन अपेक्षित है। यह प्रक्रिया भी कभी गतिशील तो कभी स्थितिशील होने का आभास देती रही है। भक्ति-

तथा सशक्त निरूपण निराला की कविताओं में उपलब्ध है। एक ओर 'जुही की कली' है तो दूसरी ओर 'तोड़ती पत्थर' है। इस तरह निराला का समस्त काव्य जो इनके विभक्त व्यक्तित्व की देन है, समविषम, संगत-विसंगत स्वरों को ध्वनित करता है।[1] अज्ञेय भी छायावादी अवशेष को अभिव्यक्ति देकर आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने के बाद अपनी अभिनव रचनाओं में इस प्रक्रिया के अवरुद्ध होने का परिचय देते हैं।[2] इसी तरह आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी और आचार्य नगेन्द्र जब प्रक्रिया की बात करते हैं तो इनकी प्रक्रिया आधुनिकता की प्रक्रिया से भिन्न कोटि की है। इनका उद्देश्य मध्यकालीन तथा आधुनिक बोध में अपनी प्रक्रिया के धरातल पर सामंजस्य की स्थापना है। यह सामंजस्य स्थायी तथा संभव होने का आभास देकर वास्तव में अस्थायी तथा असंभव है। इस तरह के प्रयास कविता तथा आलोचना में आधुनिकता की प्रक्रिया के अवरुद्ध होने का परिणाम है। इसी प्रकार छायावाद में यह प्रक्रिया कभी गतिशील है तो कभी स्थितिशील। यह और बात है कि आधुनिकता से ही कृति नहीं बनती, यह कृति को आज अतिरिक्त महत्व दे सकती है। केवल आधुनिकता के आधारपर कृति-विशेष का मूल्यांकन करना इसे मूल्य के रूप में स्वीकारना होगा और इसके फलस्वरूप कालिदास के 'शाकुन्तल' और तुलसी के 'मानस' को कृतियों के आधार से वंचित करना होगा।

२. यदि आधुनिक कविता में छायावादी तथा इसके पहले या बाद की रचनाओं को शामिल करना है तो इतना कहना आवश्यक हो जाता है कि छायावाद में आधुनिकता की स्वीकृति भी है और अस्वीकृति भी। इसके पहले की रचनाओं में भी लगभग यही स्थिति है। लेकिन छायावाद के बाद की कविता में आधुनिकता की चुनौती की स्वीकृति अधिक है, अस्वीकृति कम। उत्तरछायावादी कविता में जब कभी इस प्रक्रिया में गतिरोध आया है तब कविता को या तो नये नाम से पुकारा गया है या इसे अपने से नया या नव शब्द जोड़ना पड़ा है। इसमें प्रक्रिया एक ही है, चुनौती आधुनिकता की ही है। यह भले ही प्रयोगवाद हो या प्रगतिवाद, नव-स्वच्छन्दतावाद हो या नव-यथार्थवाद, नयी कविता हो या अकविता। वाद तथा विवाद और भी है—जैसे प्रपद्यवाद, हालावाद, अभिनव कविता, ठण्डी कविता, आदि। यहाँ तक कि गीति-काव्य को नये नाम की तलाश है, नवगीत। इस तरह आधुनिकता की प्रक्रिया अब तक जारी है। यह कभी [illegible]

---

१. निराला-काव्य : 'आलोचना', अ० २७

२. आँगन के पार द्वार

तथा सशक्त निरूपण निराला की कविताओं में उपलब्ध है। एक ओर 'जुही की कली' है तो दूसरी ओर 'तोड़ती पत्थर' है। इस तरह निराला का समस्त काव्य जो इनके विभक्त व्यक्तित्व की देन है, समविषम, सगत-विगत स्वरों को ध्वनित करता है।[१] अज्ञेय भी छायावादी अवलेप को अभिव्यक्ति देकर आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने के बाद अपनी अभिनव रचनाओं में इस प्रक्रिया के अवरुद्ध होने का परिचय देते हैं।[२] इसी तरह आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य नगेन्द्र जब प्रक्रिया की बात करते हैं तो इनकी प्रक्रिया आधुनिकता की प्रक्रिया से भिन्न कोटि की है। इनका उद्देश्य मध्यकालीन तथा आधुनिक बोध में अपनी प्रक्रिया के धरातल पर सामंजस्य की स्थापना है। यह सामंजस्य स्थायी तथा सम्भव होने का आभास देकर वास्तव में अस्थायी तथा असम्भव है। इस तरह के प्रयास कविता तथा आलोचना में आधुनिकता की प्रक्रिया के अवरुद्ध होने का परिणाम है। इसी प्रकार छायावाद में यह प्रक्रिया कभी गतिशील है तो कभी स्थितिशील। यह और बात है कि आधुनिकता से ही कृति नहीं बनती, यह कृति को आज अतिरिक्त महत्व दे सकती है। केवल आधुनिकता के आधार पर कृति-विशेष का मूल्यांकन करना इसे मूल्य के रूप में स्वीकारना होगा और इसके फलस्वरूप कालिदास के 'शाकुन्तल' और तुलसी के 'मानस' को कृतियों के आधार से वंचित करना होगा।

२. यदि आधुनिक कविता में छायावादी तथा इसके पहले या बाद की रचनाओं को शामिल करना है तो इतना कहना आवश्यक हो जाता है कि छायावाद में आधुनिकता की स्वीकृति भी है और अस्वीकृति भी। इसके पहले की रचनाओं में भी लगभग यही स्थिति है। लेकिन छायावाद के बाद की कविता में आधुनिकता की चुनौती की स्वीकृति अधिक है, अस्वीकृति कम। उत्तरछायावादी कविता में जब कभी इस प्रक्रिया में गतिरोध आता है तब कविता को या तो नये वाद से पुकारा गया है या इसे अपने से पहले नया या नव शब्द जोड़ना पड़ा है। इसमें प्रक्रिया एक ही है, चुनौती आधुनिकता की ही है। यह चाहे ही प्रयोगवाद हो या प्रगतिवाद, नव-स्वच्छन्दतावाद हो या नव-यथार्थवाद, नयी कविता हो या अकविता। वाद तथा विवाद और भी है—जैसे प्रपद्यवाद, हालावाद, आकृतम कविता, इच्छा कविता, आदि। यहाँ तक कि पीढ़ी-वाचक भी नये नाम को लादे हैं, नवलेखन। इस तरह आधुनिकता की प्रक्रिया अब तक जारी है। यह कभी स्वच्छन्दतावादी रूप

१. निराला-काव्य : 'आलोचना', अं० २७
२. आंगन के पार द्वार

निकता को मूल्य के रूप में स्वीकार करता है तो वह आधुनिकवादी होने का परिचय दे सकता है, आरोपित जीवन-दृष्टि को अपनाने का दावा कर सकता है। इस सम्बन्ध में भारतीयता या अभारतीयता का प्रश्न उठाना असंगत है। यह इसलिए कि आधुनिकता की चुनौती काल से सम्बद्ध होती है न कि देश से। अधिक सही तौर पर यदि इसे व्यक्त किया जाए तो यह देश-काल से सम्बद्ध होती है। एक के देश-काल को दूसरे पर आरोपित कर आधुनिकता को किसी निश्चित परिभाषा में बांधना आधुनिकता को आधुनिकवाद में परिणत करना है। आरोपित मूल्यों के आधार पर कविता या कृति-विशेष का जब मूल्यांकन किया जाता है तो यह इसे एकांगी बना देता है। छायावाद का मूल्यांकन इसका उदाहरण है। इसका मूल्यांकन सिद्धान्त-विशेष, पद्धति-विशेष या दृष्टि-विशेष के आधार पर जब किया गया है तब इसने संकुलता को ही गहराया है। कभी छायावाद को अतृप्त भावनाओं तथा दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में आंका गया है तो कभी इसे सांस्कृतिक जागरण के प्रतीक के रूप में स्वीकारा गया है; कभी इसे पलायनवादी कहकर नकारा गया है, कभी इसे जीवनकामी काव्य की संज्ञा दी गई तो कभी इसे आत्मघाती कह कर दुत्कारा गया है; कभी इसे स्थूल के प्रति विद्रोह कहा गया है तो कभी इसे अकाव्य के रूप में घोषित किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो इसे शैली-मात्र कह कर इसकी उपेक्षा की है। यह कविता या कृति-विशेष की राह से गुजरने की बजाय इस पर अपनी राह लादने के समान है। इसलिए कविता आदि की आलोचना जब आरोपित मूल्यों के आधार पर होने लगती है तब यह सन्तुलित आलोचना के अधिकार से वंचित होने लगती है। इसी तरह कविता आदि की रचना जब आरोपित संवेदना को लेकर होने लगती है तब वह अनुकृति का आभास देने लगती है। आधुनिकता की चुनौती को जब कविता आदि में संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्ति मिलती है तब वह सहज लगती है। आधुनिक कविता ने अपना पथ प्रशस्त किया है अपने छन्द को अपनाया है या तोड़ा है, अपनी लय का परिष्कार या तिरस्कार किया है। इसलिए आधुनिक कविता के वास्तविक स्वरूप को पहचानने के लिए, इसकी मूल संवेदना को पकड़ने के लिये, इसकी उपलब्धि तथा सीमा का मूल्यांकन करने के लिये इसके विकास-पथ पर चलना आवश्यक है, इसकी रचनाओं की राह से गुजरना अपेक्षित है। और हर रचना या कृति अपने-अपने कला-नियमों को लिये होती है। इस दृष्टि से अराजकता या संकुलता के पनपने की इतनी आशंका नहीं है जितनी इसमें साहित्यिक विवेचन की संभावना है। इसके अभाव में अभी तक हिन्दी साहित्य का 'साहित्यिक' इतिहास भी नहीं लिखा गया है। यह स्थिति अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भी है। आज की कविता भी छायावादी कविता की तरह आरोपित

तत्सात करने का प्रयास भी किया। इनकी रचनाओं में नये मनुष्य का रूप उभरने लगा, लेकिन अभी मानव ने व्यक्ति का रूप धारण नहीं किया, वह सामान्य से विशिष्ट नहीं हो पाया। यह रूप छायावाद में आकर सम्पन्न होने लगता है। इसलिए शायद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्रीधर पाठक को हिन्दी का पहला स्वच्छन्दतावादी कवि घोषित किया। इनकी 'व्योम-बाला' नामक कविता, इनके प्रकृति-चित्रण तथा नवीन मानव-प्रेम में स्वच्छन्दतावाद के नये स्वरों को सुना जा सकता है। गिरिजाकुमार माथुर ने आधुनिकता को परिभाषित करते हुए इसे 'नये मनुष्य की खोज' का नाम दिया है। परन्तु आधुनिकता की प्रक्रिया आधुनिक कविता के दूसरे उत्थान में आकर स्थितिशील होने लगती है। मध्यवर्गीय समाज, जिसका उदय भारतेन्दु काल में हो चुका था, अपने विकास का पथ प्रशस्त करने के लिए इन विशेषताओं से युक्त होने लगता है जिनकी अभिव्यक्ति काव्य-रचनाओं में उपलब्ध है—'इसके संकल्प में दृढ़ता है, दृष्टि में निश्चयात्मकता है, कर्म में व्यस्तता है, आचरण में शुद्धता है, मन में उत्साह है, वाणी में गरज है, बुद्धि में विश्वास है, हृदय में शुष्कता है, काव्य में इतिवृत्तात्मकता है, मूल्यों में आदर्शवादिता है, उद्देश्य में समाज-मंगल की भावना है।'[१] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक, इस जीवन-दृष्टि के प्रतीक हैं। आधुनिकता की प्रक्रिया के अवरुद्ध होने का परिचय इस बात में मिल जाता है कि तद्भव दृष्टि के स्थान पर तत्सम दृष्टि भाषा तथा भाव दोनों में पुष्ट होने लगती है, मौलिकता का स्थान अनुवाद लेने लगता है, पुनरुत्थान की भावना दृढ़ होने लगती है। अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय प्रवास' की भाषा तत्सम के साँचे में ढलने लगती है। कृष्ण का चरित्र लोकरंजक का न होकर लोक-रक्षक का है और राधा जयदेव की विलासिनी, विद्यापति की मुग्धा, चण्डीदास की परकीया नायिका, सूरदास की नागरी, नन्ददास की तार्किका, रीतिकाल की उच्छृंखल एवं किशोरी राधा न होकर देश-सेविका बन जाती है। राधा आधुनिक युग की जागृत एवं प्रबुद्ध नारी है। इस दृष्टिकोण में नारी-सम्बन्धी मध्यकालीन बोध का विरोध अवश्य ध्वनित होता है। रामनरेश त्रिपाठी के खण्ड-काव्यों में आधुनिकता को समाज-मंगल के धरातल पर अपनाया गया है। इनके कथानक पौराणिक एवं ऐतिहासिक न होकर कल्पित हैं। इसलिए आचार्य शुक्ल रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं को आधुनिक कविता के दूसरे उत्थान के बाहर रखते हैं; परन्तु खण्ड-काव्य मूलतः वस्तुनिष्ठ तथा विषय-प्रधान हैं और इनको प्रेरित करने वाली जीवन-दृष्टि समाज-मंगल की भावना की है। इस तरह मात्र कल्पित कथानकों और मात्र सरलता के आधार

१. आधुनिक कविता का मूल्यांकन : पृ० १८

५. आधुनिक कविता में छायावाद एक निश्चित काव्य-धारा है, जिसके स्वरूप के बारे में तो बहुत मतभेद पाया जाता है, परन्तु जिसकी उपलब्धि के सम्बन्ध में संदेह की संभावना नहीं है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसे अनेक परिभाषाओं में बाँधा गया है—जैसे रहस्यवाद का दूसरा नाम ही छायावाद है, छायावाद रहस्यवाद का पहला सोपान है, छायावाद लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों तथा अमूर्त उपमानों को लेकर चलने वाली केवल एक काव्य-शैली है, छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है; छायावाद प्रकृति में मानवीय तथा ईश्वरीय भावों का केवल आरोप है; छायावाद वह काव्य है जो समझ में आ सके, छायावाद एक काव्यान्दोलन है जिसके मूल में व्यक्तिमूलक एवं सौन्दर्यमूलक जीवन-दृष्टि है, जो इसके वस्तु-शिल्प को रूपायित करती है। इन परिभाषाओं में विभिन्नता तथा इनमें पारस्परिक विरोध इतना अवश्य सिद्ध कर देता है कि छायावाद का मूल्यांकन कितना एकांगी तथा असंगत है, और यह भी स्पष्ट कर

---

१. आधुनिक कविता का मूल्यांकन : पृ० २३

विता या छायानुवाद हैं तो ये अनुकृतियों की कोटि में ही स्थान पा सकती है।
यावाद के बाद भी इस तरह की रचनाओं को मौलिक कृतियों की सज्ञा देना
नुचित होगा। किस युग मे अनुकृतियों की रचना नहीं हुई है? कौन कवि है
समने कूड़ा नही लिखा है? इस धारणा के ससार भर मे दो-चार अपवाद हो
कते हैं। इस दोष से तो तुलसीदास भी मुक्त नही है। कविता या कवि का मूल्या-
न सश्लिष्ट रचना या रचनाओं के आधार पर हो सकता है, न कि इसकी अनु-
तियो या सीमाओं के आधार पर। यदि छायावादी कवि की उपलब्धियों अथवा
छायावादी कृतियो के आधार पर इस काव्य-प्रवृत्ति का मूल्याकन किया जाए तो
समके जीवन-बोध तथा सौन्दर्य-बोध को प्रेरित करने वाली सवेदना का स्वरूप
यक्तिमूलक है और जो कभी-कभी व्यक्तिवादी होने का भी आभास देता है।
यक्तिमूलक से आशय केवल इतना है कि जीवन तथा जगत का चित्रण तथा मूल्या-
कन व्यष्टि-सत्य के आधार पर किया जाता है, जब कि छायावाद के पहले की
रचनाओं में जीवन-जगत को समष्टि-सत्य की कसौटी पर परखा गया है। यदि आधु-
निकता की भाषा में कहा जाए तो छायावाद के पहले इस चुनौती को समाज-मगल
के धरातल पर और छायावाद में इसे व्यक्ति-हित के स्तर पर स्वीकारा गया
है। आधुनिकता की प्रक्रिया छायावाद के पहले समष्टिमूलक सवेदना को लिये
हुए है और छायावाद में व्यष्टिमूलक सचेतना को। इसकी अभिव्यक्ति मानव
के परस्पर सम्बन्धों तथा मानव एवं प्रकृति के सम्बन्धों के माध्यम से हुई है। इन
सम्बन्धो मे प्रेम का सम्बन्ध केन्द्रीय तथा मूलभूत है जो आदि काल से काव्य
का विषय बनता आया है और युग-बोध के अनुरूप इसकी वस्तु बदलती रही
है। मध्यकालीन कवि इस सम्बन्ध को वैयक्तिक अभिव्यक्ति देने मे सकोच करता
रहा है। इसे व्यक्त करने के लिए कभी यह अन्य पात्रों का आश्रय लेता रहा है

रह गया है। पन्त प्रेम के स्वच्छ भाव की अभिव्यक्ति करते हैं और आँसू की बालिका को एक स्वतन्त्र मित्र के रूप में चित्रित कर, नारी से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करते हैं। इस में नारी-सम्बन्धी मान्यताओं का विशेष संकेत होता है। इसके अतिरिक्त इनके काव्य में प्रेम का स्वरूप आदर्श, स्वच्छ, कल्पनामय तथा उदात्त भी है। पन्त के प्रेम में नारी की सुकुमारता, कोमलता तथा संयम है। इसलिए यह मादकता नहीं, मुग्धता बन रह जाता है। निराला के प्रेम में उद्दाम तथा अदम्य आवेग है जिसकी अभिव्यक्ति 'जुही की कली', 'शेफालिका', 'प्रगल्भ प्रेम', में उपलब्ध है, परन्तु जिसका परिष्कार तथा उन्नयन भी हुआ है। इस उन्नयन के कारण इनके व्यक्तिगत प्रेम की परिणति करुणा में होती है। महादेवी के काव्य में प्रेम की जो पीड़ा व्यक्त हुई है वह गहन एवं अनुपम है और रूढ़ि के कठोर बन्धनों के विरुद्ध इसमें भारतीय नारी का क्रन्दन है। छायावाद में जिस वैयक्तिक स्वच्छन्द प्रेम का पुरुष को अधिकार है, नारी इससे वंचित है। इसलिए महादेवी के गीतों में टीस एवं क्रन्दन का स्वर अधिक तीव्र हो उठता है। रामकुमार वर्मा की रचनाओं में भी प्रेम का स्वरूप गम्भीर तथा उदात्त है; परन्तु भगवतीचरण वर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, रामेश्वर शुक्ल अंचल तथा अन्य छायावादी कवियों में प्रेम की अनुभूति अधिक उद्दाम एवं मांसल रूप में व्यक्त होने लगती है। हरिवंश राय बच्चन के गीतों में इस अनुभूति से रहस्य का आवरण उतर जाता है और इसकी सहज अभिव्यक्ति होने लगती है। यह आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है जो उदात्त-असीम के प्रति विद्रोह करने की प्रेरणा देती है। इस तरह छायावाद में पहले तो प्रेम का स्वरूप वस्तुनिष्ठ से आत्मनिष्ठ होने लगता है; परन्तु बाद में इसकी आत्मनिष्ठता रहस्य तथा अध्यात्म के परिधान में लिपट जाती है। यह परिधान

निर्मित होने लगी। मार्क्स तथा फ्रायड की विचार-धाराओं के प्रभाव-स्वरूप इनकी रचनाओं में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का स्वर अधिक प्रबल होने लगा। इन कवियों का अदम्य व्यक्तिवाद एक ओर आर्थिक विषमताओं से और दूसरी ओर काम-वर्जनाओं से मुक्ति पाने के लिए मार्क्सवादी तथा फ्रायडवादी चिन्तन से प्रेरणा प्राप्त करने लगा। इस तरह इन परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का विलक्षण सम्मिश्रण आधुनिकता की प्रक्रिया को स्थापित करने लगता है। इन कवियों का असन्तोष तथा विद्रोह आदर्शवादी संवेदना से पूरी तरह मुक्त भी नहीं है। इसलिए इनके काव्य में सामन्ती नैतिकता के प्रति आक्रोश, रोमानी स्वच्छन्दता के प्रति आग्रह, प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति और आध्यात्मिक विश्वासों के प्रति संदेह है। रामधारी सिंह दिनकर की रचनाओं को राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की संज्ञा देना, मैथिलीशरण की कविता से इसे जोड़ना और इस कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में आंकना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता[1]। इस आधार पर प्रसाद तथा निराला की कविता को भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-प्रवृत्ति की संज्ञा देनी पड़ेगी, जो अनुचित है। इस भ्रामक धारणा के तीन कारण हो सकते हैं। एक तो यह, दिनकर की कविताओं में समष्टि-चिन्तन का आभास मात्र है, दूसरे, इनमें मैथिलीशरण की अभिधात्मक शैली को अपनाया गया है ('उर्वशी' अपवाद है) और तीसरे, इसमें देश-भक्ति का उद्घोष है। दिनकर ने अपने काव्य के स्वरूप तथा उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वह छायावादी धूमिलता के उतने ही विरोधी है जितने मैथिली-शरण गुप्त तथा रामनरेश त्रिपाठी की अभिधात्मक शैली के। वह कविता को छायावादी कुहासे से निकाल कर धूप में खड़ा करने के पक्ष में है।[2] वह वास्तव में कविता को यथार्थ के धरातल पर स्थापित करना चाहते है। इनकी जीवन-दृष्टि समष्टि-चिन्तन से प्रेरित होने का आभास तो अवश्य देती है, परन्तु मूलतः तथा अन्ततः इन्हें अनुप्राणित करने वाला जीवन-बोध छायावादी है, जो इनकी राज-रचना 'उर्वशी' में स्पष्ट अभिव्यक्ति पाता है। इसलिये दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, सुमन, अचल आदि की कविता को छायावादी बोध से प्रेरित मानना अधिक संगत जान पड़ता है। और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करना सकुलता को केवल गहराना है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदि की कविता में जिस प्रकार छायावाद के बीज हैं, उसी प्रकार इन कवियों की रचनाओं में छायावाद

---

१. आचार्य नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां'—पृ० १९।

२. रामधारी सिंह दिनकर : 'काव्य की भूमिका' पृ० ५१, ५२।

२

बन्ध हुए बन्धन में चूड़ी का हार जाना
निकल गईं अपने अंगों के रागें
याद दिलाती मन रहा सुहाग मन टूटा ।[1]

मुक्तिबोध की कविताओं में इनके बेचैन मन की अभिव्यक्ति है, गहरी अशांति है, जो नव-यथार्थ के धरातल पर व्यक्त है। कभी यह बर्गसान के 'जीवन-शक्ति' नामक सिद्धान्त से तो कभी मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित जान पड़ते हैं; कभी यह आत्मग्लान हैं तो कभी अनास्था पर विजय पाने के लिए अधीर। अपने जीवन में जो कुछ हो रहा है इसे स्वीकारने का साहस भी रखते हैं। यह किसी आरोपित जीवन-दर्शन को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं हैं। वह महामानव बनने के लिए अपनी मानवीयता को खोना नहीं चाहते, संदेश देने के लिए किसी वाद-विशेष को अपनाना नहीं चाहते।

जबकि अन्तर खोखलापन कीट-सा
है सतत घर कर रहा आराम से
क्यों न जीवन का वृद्ध अश्वत्थ यह
डर चले तूफान के नाम से ।[2]

---

१. 'तार सप्तक' ।
२. तार सप्तक पृ० १४

आलोचना है, स्वस्थ तथा विकासमान मूल्यों का मण्डन है। इसे रूपायित करने वाली जीवन-दृष्टि समष्टि-चिन्तन, समष्टिमंगल से प्रभावित है, परन्तु इस समष्टि-चिन्तन तथा छायावाद के पहले के समष्टि-चिन्तन में गहरा अन्तर भी पाया जाता है। मार्क्सवाद के समष्टि-चिन्तन का स्वरूप वैज्ञानिक है, जबकि सुधारवादी या आदर्शवादी समष्टि-चिन्तन का स्वरूप भावात्मक है। इस तरह आधुनिकता की प्रक्रिया मार्क्सवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवादी काव्य में बौद्धिक धरातल पर विकसित होने लगती है। प्रगतिवादियों में मतभेद होने के कारण अभी मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र का व्यवस्थित विकास नहीं हो पाया है। प्रगतिवादी कवियों के बारे में भी इसी तरह का मतभेद पाया जाता है। इनकी सूची तो बड़ी लम्बी है, परन्तु इनकी सब रचनाएं प्रगतिवादी काव्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इन कवियों में नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव, गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा और गिरिजाकुमार माथुर तक की गणना की जाती है। नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर की रचनाओं को प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा देना असंगत जान पड़ता है। यदि प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है तो इनकी रचनाएं इस कोटि में नहीं आ सकती। सामाजिक यथार्थ के प्रति सजग होना एक बात है, परन्तु उसे संवेदन के स्तर पर आत्मसात करना दूसरी बात है। नरेन्द्र शर्मा, सुमन, अंचल की काव्य-संवेदना मूलतः छायावादी-बोध से प्रेरित है। इसी तरह शमशेर तथा माथुर की काव्य-सचेतना के मूल में नव-स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि है। इस तरह की भ्रान्तियों के प्रसार का मूल कारण यह है कि इन कवियों की विचारधारा पर मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु इनकी संवेदना आधुनिकता की चुनौती को अपने-अपने परिवेश में स्वीकार करती है। इनकी मूल काव्य-संवेदना के गहरे में उतर कर ही इनकी कविता का मूल्यांकन संतुलित रूप में हो सकता है, जो यथास्थान तथा यथासमय किया जाएगा। जहाँ तक नागार्जुन, केदार अग्रवाल, त्रिलोचन, रांगेय राघव, मुक्तिबोध तथा अन्य अनाम कवियों का प्रश्न है, इनकी कविताओं का मूल्यांकन यहाँ अपेक्षित है। नागार्जुन ने प्रगतिवादी जीवन-दृष्टि को सहज रूप में आत्मसात किया हुआ है। वह संवेदना के स्तर पर इसे अपने व्यंग-काव्य में अभिव्यक्ति देते हैं। श्रमजीवियों तथा बुद्धिजीवियों के जीवन में अन्तर इन शब्दों में व्यक्त है :

कि तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है।

८२९५
९।१२।६०

इस दूरी का कारण यह भी है :

इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए
वह मेहतर मैं हो नहीं पाता।

अन्तिम पंक्ति में मुक्तिबोध के व्यक्तित्व तथा काव्य के मूल सूत्र तथा मूल मन्त्र को पाया जा सकता है। कवि के जीवन की विडम्बना यह है कि वह पूरी दुनिया को साफ करने के लिए मेहतर नहीं हो पाता। यह विवशता उसे कचोटती है और असमंजस की स्थिति में पटक देती है। यदि इनका कवि-जीवन अन्य कवियों की भांति समझौता कर लेता है तो उसे इतनी यातना सहन न करनी पड़ती। निराला की तरह इनके काव्य तथा व्यक्तित्व में अभिन्न सम्बन्ध है। मुक्तिबोध के जीवन का एक-एक अनुभूत क्षण इनकी कृतियों में झलकता है। इनकी कविता इनकी शारीरिक तथा मानसिक यातना से निसृत है, इनकी विवशता तथा असमंजस का परिणाम है। मुक्तिबोध का बिम्ब-विधान तथा प्रतीक-विधान आस-पास के जीवन से लिया गया है, यह परिचित भी है और अपरिचित भी; यथार्थ के धरातल पर यह परिचित है और फेंटेसी के स्तर पर अपरिचित। इनके बिम्ब-प्रतीक-विधान पर वैज्ञानिक आविष्कारों का भी प्रभाव पड़ा है। मुक्तिबोध की काव्योपलब्धि का पूरा मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है। इनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व में चूंकि अभिन्न सम्बन्ध है, इसलिए जब तक इनके जीवन की पूरी जानकारी नहीं हो पाती तब तक इनके काव्य का विवेचन अधूरा रहेगा। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनकी काव्य-

विरोधी जीवन-दृष्टियों के आधार पर होने लगा। इसमें आधुनिकता की जो प्रतिक्रिया थी, उसकी उपेक्षा के फलस्वरूप इसे अनेक विशेषणों से मण्डित किया गया—प्रयोगवाद ह्रासशील काव्य-प्रवृत्ति है, इसमें केवल समाज-द्रोही भावनाओं को छिपाने का उपक्रम है, इसमें घोर अनास्था तथा कुण्ठा की अभिव्यक्ति है, चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केन्द्र-बिन्दु है, यह छायावादी कविता के ह्रास का विकृत रूप है, सिद्धान्त एवं व्यवहार की दृष्टि से यह कविता दुरूह है, इसमें उपचेतन के अनुभव-खण्डों का यथावत चित्रण है, इसमें रागात्मकता तथा रसात्मकता का अभाव है; इसमें सामाजिक दायित्व की अवहेलना है। इस तरह प्रयोगवादी कविता में दस दोषों की गणना की गई है। यदि काव्य-परीक्षक एक-एक दोष के लिए एक-एक अंक की कटौती कर दे तो इस कविता को दस अंकों में सिफर ही मिल सकता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य नगेन्द्र ने इसे सिफर देकर अकाव्य की कोटि में रखना उचित समझा है।[1] प्रयोगवाद का मूल्यांकन वस्तुगत तथा शिल्पगत आरोपित मानदण्डों के आधार पर हुआ है। इसलिए इसके मूल्यांकन में गहरा मतभेद पाया जाता है। यदि इसका विवेचन प्रयोगवादी कविता की राह से गुजर कर किया जाता तो शायद इतनी संकुलता तथा अराजकता की स्थिति पैदा न होती। इसकी हर रचना को कविता की

1. 'आधुनिक साहित्य : प्रयोगवादी रचनाएं,' पृ० २२

है, में आकर अपनी कविता के दूसरे चरण का सूत्रपात करते है, जिसे प्रयोगवाद का नाम दिया गया है। इस चरण का विकास और इनकी कविता का चरम विकास 'हरी घास पर क्षण भर' [१९४०-१९४६], 'बावरा अहेरी' [१९५०-१९५३], 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' [१९५४-१९५७] की रचनाओ मे उपलब्ध है। इस चरण की कविताओं में कवि प्रयोगवाद के कठघरे से निकल कर नयी कविता से सम्बद्ध होने लगते हैं। एक आलोचक ने इन रचनाओं में नव-स्वच्छन्दतावाद के स्वरों को अधिक सुना है। वह अज्ञेय के काव्य को छायावाद, प्रयोगवाद तथा नव-स्वच्छन्दतावाद के तीन सोपानों में विभाजित करते है। इससे इतना सिद्ध हो जाता है कि इनकी काव्य-संवेदना स्थितिशील नहीं है। यह किस रूप में गतिशील है, यह समस्या बनी रहती है। इस विभाजन का आधार यह है कि छायावाद मे भावात्मकता होती है, प्रयोगवाद में बौद्धिकता और नव-स्वच्छन्दतावाद में बौद्धिक तथा अबौद्धिक-व्यापारों का संयोग एव संश्लेषण। इस आलोचक की दृष्टि मे अज्ञेय के प्रयोगवाद का विकास नव-स्वच्छन्दतावाद में हुआ है, जिसे नयी कविता की संज्ञा भी दी जाने लगी है। इस धारणा को मान्यता देना इसलिए कठिन है कि नयी कविता को केवल नव-स्वच्छन्दतावाद की परिधि में बाधा नही जा सकता। अज्ञेय के काव्य की गतिशीलता का कारण यह है कि आधुनिकता की प्रक्रिया, जो इनकी आरम्भिक रचनाओ मे उपलब्ध है और जिनमें छायावादी अवशेष हैं, विकसित तथा पुष्ट होकर इनके काव्य के दूसरे सोपान की रचनाओं मे व्याप्त है। यह प्रक्रिया इनकी कविता के तीसरे सोपान मे अवरुद्ध होकर एक नया रूप धारण करती है, जिसे नव-स्वच्छन्दतावाद की संज्ञा देने की बजाय नव-रहस्यवाद का नाम देना अधिक संगत जान पड़ता है। इसकी चरम परिणति इनकी कविता 'असाध्य वीणा' मे उपलब्ध है, परन्तु इसके अंकुर 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तथा 'आगन के पार द्वार' की रचनाओं मे फूटने लगते हैं। यह आधुनिकता की चुनौती से विमुख होने का परिणाम है। इसके विपरीत नव-स्वच्छन्दतावाद मे इस चुनौती को छायावाद अथवा स्वच्छन्दतावाद के धरातल पर स्वीकार किया जाता है। अज्ञेय का छायावादी बोध अपने नवीनतम [अन्तिम नहीं] चरण में रहस्यवादी हो जाता है और इसे नव-रहस्यवाद की संज्ञा देना इसलिए आवश्यक है कि यह बोध आधुनिकता की चुनौती को प्रयोगवाद में स्वीकार तथा आत्मसात कर चुका है; इस मंजिल से गुजर चुका है। इस तरह अज्ञेय के रहस्यवाद की वस्तु छायावादी रहस्यवाद से भिन्न कोटि की है। एक ओर प्रयोगवादी काव्य-संवेदना अवरुद्ध होकर प्रपद्यवाद मे सीमित हो जाती है तो दूसरी ओर यह संवेदना अवरुद्ध होकर रहस्यवादी नीड़ में आश्रय खोजती है। आधुनिकता की चुनौती के सदैव सम्मुख होना बड़ा कठोर तथा कठिन होता है।

या अनन्त कुमार पाषाण, अशोक वाजपेयी हों या कैलाश वाजपेयी, सर्वेश्वरदयाल हों या नरेश मेहता, धर्मवीर भारती हों या बालकृष्ण राव, रघुवीर सहाय हों या लक्ष्मीकान्त वर्मा, कीर्ति चौधरी हों या स्नेहमयी चौधरी, रमासिंह हों या ममता कालिया, नेमिचन्द्र जैन हों या भारतभूषण, जगदीश गुप्त हों या कुंवर नारायण, दुष्यन्त कुमार हों या राजकमल चौधरी, शम्भुनाथ हों या श्रीकान्त—इनकी लम्बी पंक्ति यह सिद्ध कर देती है कि कवि यदि मर चुका है, लेकिन कविता जीवित है। इनकी कविताएं आधुनिकता की प्रक्रिया को इनके परिवेश तथा संस्कारों की विभिन्नता द्वारा सूचित करती हैं। इनके नाम सप्तकों में आये हों या न आये हों, 'नयी कविता' के अंकों में छपे हों या न छपे हों, परन्तु इनकी रचनाएं आधुनिक कविता के विकास की साक्षी हैं। आज के बदलते हुए परिवेश की अभिव्यक्ति इन में उपलब्ध है। इनमें स्वरों की विविधता भी समसामयिकता की सूचक है। इसलिए आधुनिकता की विविधा अभिव्यक्ति को किसी एक स्वर में बांधना इसे यान्त्रिक बनाना होगा। इन कविताओं में आस्था के स्वर भी हैं और अनास्था के भी, आशा के भी है और निराशा के भी, कुण्ठा के भी हैं और अकुण्ठा के भी, संशय के भी हैं और विश्वास के भी, सकुलता के भी है और अराजकता के भी, अगति के भी हैं और निसगति के भी, व्यष्टि-सत्य के भी है और समष्टि-सत्य के भी, विजय के भी है और पराजय के भी, आत्म-विश्वास के भी है और आत्मग्लानि के भी—परन्तु इनमें आत्म-सजगता का स्वर समान रूप से ध्वनित होता है। यह आत्म-सजगता बौद्धिकता का परिणाम है, वैज्ञानिकता की देन है,

मेरे हाथों में मकरन्द छूट जाता है।
डरता नहीं हूं
मगर उसे जब देखता हूं
गुमसुम, अपलक, उदास
देखा नहीं जाता।

केदारनाथ सिंह अनागत की बाट जोहते हैं जो न आता है और न ही जाता है; लेकिन इनकी आस्था डोलती नहीं है। वह 'हक दो' में फूल, गंध, डगर, लहर, माटी सबको अपने-अपने सहज विकास के लिए हक देना चाहते हैं ताकि वह नया फूल, नयी गंध, नयी डगर, नयी लहर, नयी माटी बन सके। यह सब-कुछ नये मानव के हित तथा विकास के लिए है। यदि आज की कविता में आस्था के स्वर हैं तो इस में अनास्था के भी स्वर हैं। इस बारे में कैलाश वाजपेयी का कथन है।

मैं लज्जित हूं
क्योंकि प्यार में बड़ा झूठ
अब तक बोला ही नहीं गया
आंसू से ज्यादा अच्छा नाटक
    खेला ही नहीं गया
ईश्वर सा खोखला शब्द
दोबारा उगला नहीं गया।

इस स्वर के अतिरिक्त मोहभंग की गहरी अनुभूति को बार-बार अभिव्यक्ति मिली है। भारती की 'सम्पाती' नामक कविता में सम्पाती अपने अधजले पंखों को लेकर गहरी गुफा में चिन्तन करता हुआ कहता है.

मेरा भाई था जटायु
जो व्यर्थ के लिए जाकर भिड़ गया दशानन से
कौन है सीता ?
और किसको बचाये ? क्यों ?
निरंकुश तो आखिर में दोनों ही करेंगे उसे
रावण उसे हर कर और राम उसे जीत कर
नहीं, अब कोई चुनौती मुझे छूती नहीं
....
गुफा में शान्ति है।

इस तरह आदि-काल से मानव चुनौतियों को स्वीकारता हुआ आज तटस्थ होकर गुफा में लेट कर समुद्र की पछाड़ें खाते हुए देखता हुआ अधिक सुखी है। इसी मोह-भंग की अनुभूति को नरेश मेहता 'ज्वार लहरा, अन्धकार बढ़े' में इन

विगत और अनागत में कवि की जो आस्था थी, अपरिचित में जो विश्वास था, वह आगत तथा परिचित में गिरने लगता है। इनकी आस्था कवि-कर्म के प्रति अभी स्थिर है। गिरिजाकुमार माथुर की उपलब्धि जितनी शिल्प के क्षेत्र में है उतनी शायद वस्तु के क्षेत्र में नहीं है। शब्द-चित्रण इनकी काव्य-संवेदन की विशिष्टता है। इनकी अभिनव कविताओं में आस्था का स्वर ढीला पड़ रहा है, नव-स्वच्छन्दतावादी दृष्टि क्षीण होने की साक्षी दे रही है। जगदीश गुप्त ने भी गीतों तथा कविताओं की रचना की है। इनके गीतों में जितनी सहजता है (सुकुमार चाँदनी रही झूल) उतनी इनकी कविताओं में जटिलता है, जो बौद्धिकता का परिणाम है। इनका बिखरा हुआ अहं इन शब्द-चित्रों में अंकित है।

मैं बिखर गया हूँ
अपने ही चारों ओर।
मेरा एक अंश-सामने के नीम की
नंगी टहनियों में लगी उदास पीली
पत्तियों के बीच उलझ गया है—
और उन्हीं के साथ
पतझर के रूखे किन्तु खुमारी-भरे
झोंकों की चोट से—एक एक कर,
नाचता-गिरता-लहरता-थिरता

[illegible] हैं। इन कृतियों में युग की संकटापन्न स्थितियों और क्षयों के माध्यम से संत्रस्त तथा सजीव अभिव्यक्ति मिली है। यदि अलंकार रूप में कहीं-कहीं शब्द-चयन अथवा वाक्य-विन्यास के रूप में इनमें दरारें पड़ गई हैं तो ये इनकी उपलब्धि को नकार नहीं सकतीं। भारती की अन्य कविताओं में भी बहुत कम दरारें हैं जो नकारात्मकता में विराग ला सकती हैं। इन कविताओं में स्वरों की भी विविधता है—आस्था-अनास्था, आशा-निराशा, मोहभंग, अकेलापन आदि के स्वर ध्वनित हैं। यदि 'कामायनी' छायावादी काव्य की उपलब्धि है तो 'अंधा युग' को आज की कविता की उपलब्धि स्वीकारने में संकोच क्यों? कविताएँ और भी हैं इनके सिवाय जो आज की कविता की उपलब्धि है। इन में सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद, भारत भूषण, लक्ष्मीकान्त, रघुवीर सहाय, शकुन्त माथुर, रमासिंह, स्नेहमयी चौधरी, ममता कालिया, शम्भूनाथ सिंह, शान्ता सिनहा, श्रीकान्त वर्मा, श्रीराम शर्मा, हरिनारायण व्यास, प्रयागनारायण त्रिपाठी आदि की कविताएँ आज की कविता की उपलब्धि को आँकने के लिए अपनी-अपनी विशिष्टता को लिए हुए हैं। हर कविता आधुनिकता को निजी रूप में आत्मसात किये हुए है। सर्वेश्वर की काव्य-संवेदना छायावादी कुहासे से निकल कर आधुनिकता के धरातल पर व्यक्त होने लगती है। आज के जीवन की जटिलता तथा संकुलता का संवेदन आधुनिकता के स्तर पर हुआ है। कवि जीवन के मूल्यों को अपनी काव्य-संवेदना पर आरोपित नहीं होने देते और ये मूल्य इनकी सृजन-प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। ये व्यक्त होकर भी अव्यक्त रह जाते हैं

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है,
तुम उसको मत वाणी देना।
....
वह मेरी कृति है

थे, चेत थे; अब वह आत्मसजग तथा आत्मचेत है। इसमें इनके विकासमान जीवन-बोध तथा काव्य-बोध को आंका जा सकता है। कुंवरनारायण की काव्य-संवेदना पर पाश्चात्य कविता की गहरी छाया है या झीनी—यह इतना महत्व नहीं रखता जितना यह कि कवि किस राह से गुजरा है और उसने अपनी काव्य-संवेदना को संश्लिष्ट अभिव्यक्ति दी है या नहीं। इनकी कविता में रंग बाहर का है और रेखा भीतर की—इस तरह के मूल्यांकन आरोपित मूल्यों का परिणाम होते हैं। इनकी 'पैतृक युद्ध' नामक कविता में कवि अपने आत्मसंघर्ष को सशक्त अभिव्यक्ति देते हैं :

> कौन कल तक बन सकेगा कवच मेरा ?
> युद्ध मेरा मुझे लड़ना
> इस महाजीवन समर में अन्त तक कटिबद्ध

आगे चलकर नये अभिमन्यु तथा व्यूह का हवाला देकर वह निजी आत्म-विश्वास तथा दृढ़ संकल्प को अभिव्यक्ति देते हैं। अभिमन्यु तथा चक्रव्यूह पाश्चात्य कविता की देन है या भारतीय परिवेश की उपज—इस सम्बन्ध में अधिक कहना असंगत होगा। यह स्वर केवल कुंवर नारायण की कविता में ही नहीं, आज की कविता में बार-बार उभरता है। इनमें अभिव्यक्ति की सहजता है या जटिलता या दोनों—यह कविता की वस्तु पर आश्रित है। इनकी कविता गहरी भी है और उथली भी, परन्तु इसका मूल्यांकन इसकी उपलब्धि के आधार पर अपेक्षित है, न कि इसकी सीमा को लेकर। कुंवर नारायण के कथन की निजी भंगिमा है—'आदमी हर दिव्यता के बाद भी सड़ता रहा,' 'अन्त है यह किरण, मेरे पास सतरंगिनी जो दर्द से गुजरे बिना खुलती नहीं' आदि से इस भंगिमा की झलक मिल जाती है। इसलिये इनकी कविता से गुजरे बिना इसकी किरण किस तरह खुल सकती है। प्रयागनारायण की कविता में छोटी-छोटी बातों से आत्मीयता का सम्बन्ध इनकी मानवीयता को अभिव्यक्ति देता है। वह 'मकड़ी का जाल' में आज के जीवन-क्रम का चित्रण इन शब्दों में करते हैं

जिधर निर्देश ने स्वयमेव
इस पर गाँठ दे दी थी ?

इस प्रश्न का उत्तर कवि के पास नहीं है, किसी प्रश्न का उत्तर उसके पास नहीं है और इसी से आधुनिकता का स्वर ध्वनित होता है। आज का कवि इतना आत्मचेतन तथा आत्मसजग हो गया है कि वह अब जड़ होना चाहता है। भवानीप्रसाद मिश्र ने इस नाम की अपनी लम्बी कविता में इसे सहज अभिव्यक्ति दी है। और अभिव्यक्ति की सहजता इनकी काव्य-संवेदना की विशेषता है जो इन पंक्तियों में व्यक्त है :

अभिव्यक्ति तो होती रहती है,
मैंने इसके ढंग नहीं सोचना
....
सोचकर नहीं रोया मेरा लड़का
और रोने ने उसे अभिव्यक्त किया।
सोच कर नहीं हँसी मेरी लड़की
और हँसी ने उसे अभिव्यक्त किया।
तुमने जमुहाई ली,
सोचकर ली थी ? नहीं,
इसीलिए उसने तुम्हारी थकान को
खोला।

इस कविता में मीठी चुटकी उन रचनाओं पर ली गई है जो आयास का परिणाम होती हैं, जो संवेदना रहित बौद्धिक व्यायाम की देन होती हैं। अभिव्यक्ति की सहजता शकुन्त माथुर, रमासिंह, कीर्ति चौधरी, स्नेहमयी चौधरी, मनमोहिनी, शान्ता सिनहा की काव्य-संवेदना की विशेषता है। क्या यह नारी-संवेदना का गुण है? शकुन्त माथुर 'ठहराव' में अपनी गहन अनुभूति को इस तरह सहज अभिव्यक्ति देती है :

आज न सही
किसी कल में
इस बहुत बड़ी दुनिया में
इस बहुत बड़ी उम्र में
आज इस आवेग के बहाव में न सही
फिर कहीं
किसी ठहराव में।

वाद तथा इसमें वाद की कविता को अपनी-अपनी परिभाषा में बाँधा है और इसके आधार पर कृति-विशेष को परखा है। 'कामायनी' तक का मूल्यांकन भी इसी दृष्टि से किया गया है। यदि 'कामायनी' का मूल्यांकन आनन्दवाद की दृष्टि न किया जाता तो अन्तिम तीन सर्गों की असंगति स्पष्ट हो सकती थी। इनकी असंगति इनके आरोपित होने में है। 'कामायनी' के अन्तिम तीन सर्ग कृति की संश्लिष्टता को भंग करते हैं, इसमें दरारें डाल देते हैं। आनन्दवाद का निरूपण ही इसे असफल कृति बना देता है। इस तरह का मूल्यांकन 'कामायनी' तक सीमित न होकर व्यापक रूप में उपलब्ध है। यह कृति को एक संश्लिष्ट रचना की दृष्टि से आँकने का परिणाम न होकर आरोपित दृष्टि के आधार पर मूल्यांकन की देन है। इस तरह तो मुक्तिबोध की काव्य-संवेदना के आधार पर माथुर की काव्य-सचेतना रूमानी है और इसलिए यह हेय है। इसमें मुक्तिबोध की आधुनिकता का अभाव है और यह आधुनिकता ही कविता के मूल्यांकन की चरम कसौटी है, जब कि आधुनिकता चरम तथा शाश्वत का विरोध करती है। इसी तरह अज्ञेय कुण्ठा का कवि है।

खण्ड एक

छायावाद के पहले

गुरुभक्तसिंह

मेहर का शैशव

इन घासों के मैदानों में, इन हरे-भरे मखतूलों पर,
इन गिरि-शिखरों के अंकों में, इन सरिताओं के कूलों पर।

जो रहा चाटता ओस रात भर प्यासा ही था घूम रहा,
वह मारुत पुष्पों का प्याला खाली कर-कर है झूम रहा।

पर्वत के चरणों में लिपटी वह हरी-भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर-झर है, फूलों ही से जो पाटी है।

उसके तट से सुरम्य भू पर, झाड़ी के झिलमिल घूंघट में,
है नई कली इक झांक रही लिपटी घासों ही के पट में।

कैसी प्यारी वह कलिका है—नवजात बालिका सोई है,
वह पड़ी अकेली देख रही है पास न उसके कोई है।

है खेल रही उसमें आकर क्वांरी-क्वांरी हिम-बालायें,
हो गईं निछावर इस छवि पर नभ की सब तारक-मालायें।

यह नव मयंक है उगा हुआ चारों दिशि छिटके तारे हैं,
ऊषा ने किये निछावर ये मोती जो प्यारे-प्यारे हैं।

स्वर लहरी तो है खेल रही परदे में जननी वीणा है,
इस भू-मण्डल की मुंदरी का यह कन्या सुघर नगीना है।

मृदु कलियां चुटकी बजा-बजाकर बच्चे को बहलाती हैं,
कोमल प्रभात-किरणें हिमकण में नहा-नहा नहलाती हैं।

यह भावी के रहस्यमय अभिनय की पहली ही झांकी है,
यह कुसुम चित्र किसने खींचा? क्या मूर्ति गढ़ी यह बांकी है।

उस कुसुम-अंक मे विलसी, मुख से मैं हिमकण बन कर।
दिनकर ने जहाँ विलोका मैं ठहर न पाई क्षण भर॥
जीवन में बहुत न रुकना, रुकने मे दुख-ही-दुख है।
आये चल दिये चमक कर, बन धूमकेतु, यह सुख है॥
कुछ नही वासना मन मे, हाँ एक साध है बाकी।
प्यासी आँखें कर लेती, प्रियतम की फिर इक झाँकी॥
वे लिये अंक ही में थे, मैं जी भर देख न पाई।
इन आँखो में हा मेरी, थी जग की लाज समाई॥
वे रहे लुभाते मुझको, आलिंगन उपचारों से।
मैं पूज न पाई उनको, यौवन के उपहारों से॥
वे बार बार कहते थे, बोलो, बोलो, कुछ बोलो।
यह चंद्रवदन दिखला दो, खोलो घूंघटपट खोलो॥
क्या कहें कुसुम-मुख से तब परिमल-बोली नहिं फूटी।
जब काल सामने नाचा, तब मेरी निद्रा टूटी॥
अब कल है निर्णय मेरा, जीवन का है निपटारा।
मैं घाट उतर जाऊँगी पाकर करवाल किनारा॥
है विदा माँगने वाली, बंधन निशि की अँधियाली।
मुझको स्वतंत्र कर देगी, आ अरुणोदय की लाली॥
काया बंधन यह तज कर मैं, कल स्वतंत्र विचरूँगी।
बंदीगृह की माया से, हो मुक्त विहार करूँगी॥
इस अंधकार-अम्बुधि का दिनकर जलयान बनेगा।
विश्राम जीव पावेगा या फिर संग्राम ठनेगा॥
तुम पर कुछ आँच न आये प्रिय जीओ मैं मर जाऊँ।
दुर्दैव अनिष्ट करे क्यों? मैं बलि हो उसे मनाऊँ॥
तुम कुछ संदेह न करना, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।
मैं तन-मन-धन से प्यारे, तेरे ऊपर मरती हूँ॥
मैं प्रकट न कुछ कर पाई, दोषी हूँ, अपराधी हूँ।
नारी हूँ लज्जा ही के परदे में मैं बाँधी हूँ॥
फिर भी इन ताल सुरों को मैं तोड न क्योंकर बोली।
संकोच-लाज दुनिया को क्यों मार नही दी गोली॥

('नूरजहाँ' से)

मैं न चाहता हार बनूँ मैं,
या कि प्रेम-उपहार बनूँ मैं,
या कि शीश-शृंगार बनूँ मैं,
मैं हूँ फूल मुझे जीवन की
सरिता में ही तुम बहने दो,
मुझे अकेला ही रहने दो।

नही चाहता हूँ मैं आदर,
हेम तथा रत्नो का आकर,
नही चाहता हूँ कोई वर,
मत रोको इस निर्मम जग को,
जो जी मे आवे कहने दो,
मुझे अकेला ही रहने दो।

खोज

मैं न तुम को खोज पाया!
झुक रहे पादप तुम्हारी ओर थे,
पुष्प तुम को देख हर्ष-विभोर थे,
नाचते उन्मत्त मजुल मोर थे,
तुम छिपी थी कुज मे यह ध्यान मे मेरे न आया,
मैं न तुम को खोज पाया!

थी नदी तट पर मुग्धे! तुम घूमती,
ललित लहरें मृदु चरण थी चूमती,
वायु कम्पित थी लताएँ झूमती,
थी न लगती मिस लतिका से तुम्हारी मजु काया;
मैं न तुम को खोज पाया!

उच्च हिमगिरि पर तुम्हारा बास है,
निकटतम जिस के विमल आकाश है,
नित जहाँ रहता मनोज्ञ विकास है,

कभी रचकर गुड़ियों का ब्याह,
दिखाती है अपूर्व उत्साह,
हृदय का रुकता नहीं प्रवाह,
स्वयं गाती है मंगल-गान, बनाती है अनेक पकवान;
बालिका है भोली नादान!

उसे करता यदि कोई तंग,
बदल जाता है मुख का रंग,
छोड़ देती है सब का संग,
रूठ कर हो जाती है मौन, बैठ जाती है कर के मान;
बालिका है भोली नादान!

पिता के दिये गये उपदेश,
ध्यान से सुन कर भी सविशेष,
भूलती है वह शीघ्र अशेष,
कहाँ रहते हैं उस के प्राण, नहीं पाता यह कोई जान;
बालिका है भोली नादान!

कली-सी है सुन्दर सुकुमार,
सरलता की छवि है साकार,
तितलियों से है उसको प्यार,
सीखती है उन से चुपचाप हृदय का वह आदान-प्रदान;
बालिका है भोली नादान!

सागरिका

सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।
जगती के मन को खींच-खींच,
निज छवि के रस से सींच-सींच,
जल-कन्याएँ भोली अजान,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।

माखनलाल चतुर्वेदी

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ !

चाह नहीं, सम्राटों के शव
पर, हे हरि, डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर
चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ !

मुझे तोड़ लेना, बनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक !

माखनलाल चतुर्वेदी

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ।

चाह नहीं, सम्राटों के शव
पर, हे हरि, डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर
चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।

मुझे तोड़ लेना, वनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जायें वीर अनेक।

गालों उसी में उसके नित छलकता था मद यौवन का,
उज्ज्वल था मन प्रेम से तृप्त अनजुले पङ्कज-लोचन का।
अधर पर उसके मृदु मुसकान निरन्तर क्रीड़ा करती थी,
दृगों से प्रियतम की छवि नित्य बिना विश्राम निरखती थी।

दूध की सरिता-सी अति शुभ्र पवित्र थी दोनों की ऐसी,
जुड़ी हो तारापति के पास सदा ताराओं की जैसी।
मनोहर उस का अनुपम रूप हृदय प्रियतम का हरता था।
जभी मिलती थी मैं जो गोद प्रशंसा उसकी करता था।

कभी प्राणेश्वर के गल-बाँह डाल कर वह मुसकाती थी,
गाल से प्रिय का कच्चा दाब खड़ी फूली न समाती थी।
कराती थी मुझसे वह न्याय—'मुकुर! निष्पक्ष सदा तुम हो
अधिक किसके मन में है प्रेम, हमारी आँखें देख कहो।'

गर्व उसका सुन अधर, कपोल, चिबुक को अगणित चुम्बन से
तृप्त कर प्रणयी निज सर्वस्व वारता था विमुग्ध मन से।
देखता था मैं नित यह दृश्य मुझे निद्रा कब आती थी?
हृदय मेरा खिल उठता था सामने वह जब आती थी।

हृदय था उसका ऐसा सरल प्रकृति से भी थी सुन्दरता।
वसन तन वदन देख कर मलिन कभी मैं निन्दा भी करता,
मानती थी न बुरा तिल-मात्र, न आलस या हठ करती थी,
स्वच्छ सुन्दर बन कर तत्काल देख कर मुझे निखरती थी।

काम में रहती थी निज व्यस्त, न वह क्षण-भर अलसाती थी,
ध्यान में प्रियतम के नित मस्त इधर जब आती-जाती थी।
ठहर कर आँचल से मुँह पोंछ प्यार से देख विहँसती थी,
देखती थी आँखों में मूर्ति प्राणधन की जो बसती थी!

रहे थोड़े ही दिन इस भाँति परम सुख से दोनों घर में।
अचानक यह सुन पड़ी पुकार राष्ट्रपति की स्वदेश-भर में
'कष्ट अब पर-पद-दलित स्वदेश-भूमि में अन्तिम सहने को,
चलो, वीरो, बन कर स्वाधीन जगत में जीवित रहने को।'

प्रियतमा का वह प्राणाधार मनस्वी युवकों का नेता—
राष्ट्रपति की पुकार को व्यर्थ भला वह क्यों जाने देता?

नसों नसों में उसके नित छलकता था मद यौवन का,
उदय था नव प्रेम में पूर्ण अधखुले पङ्कज-लोचन का।
अधर पर उसके मृदु मुसकान निरन्तर क्रीडा करती थी,
दृगों में प्रियतम की छवि नित्य बिना विश्राम विचरती थी।

दूध की सरिता-सी अति शुभ्र पवित्र थी दोनों की ऐसी,
जुटी हों तारापति के पास सभा ताराओं की जैसी।
मनोहर उस का अनुपम रूप हृदय प्रियतम का हरता था।
जभी मिलती थी मैं जी खोल प्रशंसा उसकी करता था।

कभी प्राणेश्वर के गल-बाँह डाल कर वह मुसकाती थी,
गाल से प्रिय का कन्धा दाब गर्व से फूली न समाती थी।
कराती थी मुझसे वह न्याय—'मुकुर ! निष्पक्ष सदा तुम हो
अधिक किसके मन में है प्रेम, हमारी आँखें देख कहो।'

गर्व उसका सुन अधर, कपोल, चिबुक को अगणित चुम्बन से
तृप्त कर प्रणयी निज सर्वस्व वारता था विमुग्ध मन से।
देखता था मैं नित यह दृश्य मुझे निद्रा कब आती थी ?
हृदय मेरा खिल उठता था सामने वह जब आती थी।

हृदय था उसका ऐसा सरल प्रकृति में भी थी सुन्दरता।
वसन तन वदन देख कर मलिन कभी मैं निन्दा भी करता,
मानती थी न बुरा तिल-मात्र, न आलस या हठ करती थी,
स्वच्छ सुन्दर बन कर तत्काल देख कर मुझे निखरती थी।

काम में रहती थी निज व्यस्त, न वह क्षण-भर अलसाती थी,
ध्यान में प्रियतम के नित मस्त इधर जब आती-जाती थी।
ठहर कर आँचल से मुँह पोंछ प्यार से देख विहँसती थी,
देखती थी आँखों में मूर्ति प्राणधन की जो बसती थी।

रहे थोडे ही दिन इस भाँति परम सुख से दोनों घर में।
अचानक यह सुन पडी पुकार राष्ट्रपति की स्वदेश-भर में
'कष्ट अब पर-पद-दलित स्वदेश-भूमि में अन्तिम सहने को,
चलो, वीरो, बन कर स्वाधीन जगत में जीवित रहने को।'

प्रियतमा का वह प्राणाधार मनस्वी युवकों का नेता—
राष्ट्रपति की पुकार को व्यर्थ भला वह क्यों जाने देता ?

सियारामशरण गुप्त

अब न करूँगी ऐसा

बड़े - बड़े बालों वाला,
छोटे क़द का, सुन्दर, शोभन—
कुत्ता था मैंने पाला।
उसके लिए विविध व्यंजन बनवाता,
तृप्त नहीं कर देता उसको
तब तक तृप्ति नहीं पाता।
जता - जताकर प्यार, गोद में ले-लेकर,
मृदुल थपकियाँ दे - देकर,
उसे खिलाकर अपना हृदय खिलाता।
आने को थे उस दिन एक सुहृद मेरे।
उठकर बड़े सवेरे
मैं फँस गया उसी खटपट में—
भूल गया कुत्ते को भी उस स्वागत के झंझट में।
चढ़ आया दिन एक पहर;
ग्रीष्म काल का भीष्म दिवाकर
होने लगा प्रचण्ड, प्रखर।
बारबार
क्रुद्ध प्रभंजन करने लगा विकट चीत्कार;
धूल-धूसरित, सा सा करता जाता,
लगे किवाड़ों को खटाक से
खोल जोर से टकराता।

प्रतिक्षण
पाटल के दल
बरस रहे थे आँखों से निरगल।
सुन कर मेरा गर्जन
तर्जन

धीरे से बोली वह कम्पित स्वर से—
'आ रहे थे सुनते मालिक-से।
नहीं था मेरे घर में नाज,
बिना कलेवा किये इसी से आज
आई थी मैं घर से।
मैंने नहीं पिया था जल भी।
नहीं मिली थी मुझे मजूरी कल भी।
भूखे को नहलाती हूँ मैं, अब न करूँगी ऐसा।'

खड़ा रह गया मैं जैसे का तैसा।
उसने रस्सी-डोल हाथ में लेकर,
पास कुँए पर
पानी भर-भर,
कुत्ते को नहलाया।

मेरे मुँह पर वाक्य न कोई आया।
आह! उसका वह स्वर था कैसा,—
'अब न करूँगी ऐसा!'

एक क्षण

मेरी घड़ी
चलते ही चलते तू एक दम
हो गई यहाँ खड़ी,
किंकर्त्तव्यमूढ़ सम।

क्षणिक

क्षण भर ही सुन पाई मैंने कोइल, यह तेरी कल-कूक;
और न जाने किस वन को तू कहाँ उड़ गई होकर मूक।

यह क्षण—जिसके क्षुद्र पात्र में
निखिल सुधा भर दी तूने—
यह क्षण—जिसकी क्षणभंगुरता
चिर जीवित कर दी तूने—

महाकाल की खनि से निकला
अतुलित एक रत्न बन कर,
न-कुछ सीप में स्वाति-बिन्दु की
यह मुक्ता धर दी तूने!

मेरे नीरव-निर्जन पथ को मुखर-मन्त्र मिल गया अचूक,
कम क्या, यदि सुन सका क्षणिक ही कोइल, वह तेरी कल-कूक?

क्षण भर ही पा सका वायु में तेरी मन्द-मधुर झकझोर,
और सुरभि ले वह अपनी तू चली गई जाने किस ओर।

यह क्षण—जिसके दोने में तू
सब मधु-रस निचोड़ लाई—
यह क्षण—जिसमें गत-वसन्त को
फिर से यहाँ मोड़ लाई—

महाकाल के मस्तक पर है
मलयज चन्दन का टीका,
एक तान में सब रागों का
स्वर-संयोग जोड़ लाई!

मेरा ग्रीष्म-खिन्न यात्रापथ सरस हो गया हर्ष-विभोर,
कम क्या, यदि पा सका क्षणिक ही तेरी मन्द-मधुर झकझोर?

भरे गगन में हैं जितने तारे,
हुए हैं बदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानो
दो उंगलियों पर नचा रही है।

सुनो तो सुनने की शक्ति वालो,
सको तो जाकर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में
कि इतनी चुलबुल मचा रही है।

सान्ध्य-अटन

विजन वन प्रान्त था,
प्रकृति-मुख शान्त था,
अटन का समय था,
रजनि का उदय था,
प्रसव के काल की लालिमा मे लिप्त,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा।

सद्य उत्फुल्ल-अरविन्द-नभ
नील सुविशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा
दिव्य दिङ्नारि की गोद का लाल-सा
या प्रखर सूर्य की यातना से प्रहित
पारणा-रक्त-रस-लिप्सु,
अन्वेषणा-युक्त या मोहनासक्त, मृगराज-शिशु
या अतीव कोप-सन्तप्त जर्मन्य नृप-सा, किया
अभ्र-बंकर-उर में छिपा
इन्दु, या इन्द्र का छत्र, या ताज, या
स्वर्ग गजराज के भाल का साज, या
वर्ण उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा।
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था;
देखने का बड़ा चित्त में चाव था।

खण्ड दो

छायावाद

◦ ◦ ◦

ज्योत्स्ना निर्झर ! ठहरती ही नहीं यह आँख ;
तुम्हें कुछ पहचानने की खो गई - सी साख।
कौन करुण रहस्य है तुम में छिपा छविमान,
लता वीरुध दिया करते जिसे छाया दान।

पशु कि हो पाषाण सब में नृत्य का नव छंद ;
एक आलिंगन बुलाता सभी को सानंद।
राशि - राशि बिखर पड़ा है शांत संचित प्यार ;
रख रहा है उसे ढोकर दीन विश्व उधार।

देखता हूँ चकित जैसे ललित लतिका-लास ;
अरुण घन की सजल छाया में दिनांत-निवास—
और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास ;
मदिर माधव यामिनी का धीर पद विन्यास।

आज यह जो रहा सूना पड़ा कोना दीन ;
ध्वस्त मंदिर का, बसाता जिसे कोई भी न—
उसी में विश्राम माया का अचल आवास ;
अरे यह सुख नींद कैसी, हो रहा हिम हास !

वासना की मधुर छाया ! स्वास्थ्य बल विश्राम !
हृदय की सौंदर्य प्रतिमा ! कौन तुम छवि-धाम !
कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज ;
कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर खोज !

कुंद मंदिर-सी हँसी ज्यों खुली सुषमा बाँट,
क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट ?
कहा हँस कर, अतिथि हूँ मैं, और परिचय व्यर्थ,
तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ !

चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज—
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज !
कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनंत में बसने लगा अब लोक।

इस निशामुख की मनोहर सुधामय मुसक्यान,
देख कर सब भूल जायें दुःख के अनुमान।
देख लो, ऊँचे शिखर का व्योम चुंबन व्यस्त,
लौटना अंतिम किरण का और होना अस्त।

तारा पांडे

सुख-दुख

मैंने सोचा था—हूँ जग से
शीघ्र विदा होने वाली,
हँसना मेरा नहीं जगत में,
मैं तो हूँ रोने वाली।

चारों ओर घिरे थे मेरे
अन्धकार के बादल घोर,
नहीं सूझता था तब कुछ भी
आशा-अभिलाषा का छोर!

मैं निराश थी इस जीवन से,
सूना था मेरा संसार;
निकल रही थी भग्न-हृदय से
अस्फुट और करुण हाहाकार!

हाथ जोड़ निज अन्तरतम से
मैंने विनती की बहु बार
हे प्रभु! मुझे बचाओ दुख से
अथवा करो जगत से पार!

अपने उस अशान्त जीवन में
मुझको फिर से शान्ति मिली;
कण-कण के सूनेपन में हो
पुलकित स्वर्गिक कान्ति मिली!

आँखें देती थी उस छवि पर
अपना सब-कुछ वार !
उसी समय वीणा गाती थी
मुग्ध गीत दो-चार !

यह विनोद था, हँसमुख, स्वर्गिक
जीवन की थी चाह !
नई उमंगें थी सब उर में,
नूतन था उत्साह !

हाय, अचानक वीणा टूटी,
मिला शून्य में राग !
मोरा जीवन शेष रह गया
करने को अनुराग !

अभिलाषा है सुनने की तो
और सुनो इस बार—
लगे हुए हैं इस वीणा पर
अब आहों के तार !

उन तारों पर गाती रहती
हूँ मैं नीरव गान !
नहीं जानती, कब होगा इन
गीतों का अवसान !

कौन सुनेगा ?

किसे सुनाऊँ ? कौन सुनेगा ?
मेरी अपनी कथा पुरानी।
कितनी बार कही है मैंने
फिर भी पूर्ण न हुई कहानी।

बचपन का उल्लास न देखा ;
खेल-कूद में रही अजानी।

तोरनदेवी शुक्ल

कलिका

नव कलिका तुम कब विकसी थी, इसका मुझको ज्ञान नहीं।
हुई समर्पित श्री-चरणों पर कब इसका कुछ भान नहीं।

हृदय-भगिनी सरल मधुरता में देखा अभिमान नहीं।
सच है गुण का यौवन मद का दुनिया में सम्मान नहीं।

इसी हेतु सब श्रेष्ठ गुणों से पूरित तुमको अपनाया।
नव कलिका जब तुमको देखा तभी पूर्ण विकसित पाया।

नन्दन-कानन में सुरभित होने की तुमको चाह नहीं।
हृदय वेध कर हृदय-स्थल तक जाने की है दाह नहीं।

मन्त्र-मुग्ध-से जग-जन होवें, उसकी कुछ परवाह नहीं।
इन पवित्र मुसकानों में है, छिपी हुई वह आह नहीं।

प्रेममयी, इस अखिल विश्व को, अचल प्रेम से अपनाना।
यदि मिल जावें युगल चरण वह तुम उन पर बलि हो जाना।

पर भटक कर भूलकर भी—
पहुँचना जाता ठिकाने,
हो रहे अपने वीराने, खोजते जाते पुराने पाप!

जगत भ्रांति

क्या जगत में भ्रांति ही है ?
एक दिन पूछा विचरती वायु से मैंने, 'कहो, क्या शान्ति भी है ?'
क्या जगत् में भ्रान्ति ही है !

'हैं तुम्हारे विशद पथ में
नगर-ग्राम, उजाड, उपवन,
मार्ग में घर और मरघट
महल औ' पावन तपोवन,
तुम रमा करती अचल आकाश
के उर में निरन्तर,
कभी क्रीडास्थल बनाती
चिर-विकल विक्षिप्त सागर,
वायु बोलो, क्या कहीं कुछ शान्ति भी है ?
क्या जगत् में भ्रान्ति ही है ?'
गीत मेरा सुन, स्वयं संगीतमय हो वायु कहती,
'है न जाने कौन-सा कोना जहाँ, कवि, शान्ति रहती ?'
किन्तु जाऊँ, देख आऊँ
क्या कहीं कुछ शान्ति भी है ?
क्या जगत् में भ्रान्ति ही है ?

पीना चल
गाता चल
चल रे चल
थोड़े ही दिन का यह छल
यह मेरे जीवन का जल

ताराओं के हास से
चन्दरिमा के पास से
आया है आकाश से
पा सके तो पा सके
जा रहा है हाथ से
हो रहा देखो ओझल
यह मेरे जीवन का जल

गीत

मेरे घर के पीछे चन्दन है
लाल चन्दन है

तुम ऊपर टोले के
मैं निचले गाँव की
राहें बन जाती हैं रे
कड़ियाँ पाँव की
समझो कितना मेरे प्राणों पर बन्धन है!
आ जाना चन्दन है
लाल चन्दन है

ठा

ऊर्ध्व गति ने ध्यान-मग्ना—
गीत-यति को आन घेरा।
उड चला इस सान्ध्य-नभ मे,
मन-विहग तज निज बसेरा।

कुहू की बात

चार दिन की चाँदनी थी, फिर अँधेरी रात है अब,
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहू की बात है अब!

चाँदनी मेरे जगत् की भ्रान्ति की है एक माया;
रश्मि-रेखा तो अथिर है; नित्य है घन तिमिर छाया;
ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पास आया;
रात है मेरी; सजनि, इस भाल में नवप्रात है कब?

इस असीमाकाश में भी लहरता है तिमिर सागर;
कौन कहता है गगन का वक्ष है अह्-निशि उजागर?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्धतम का ही यहाँ उत्पात है सब!

मैं अँधेरे देश का हूँ चिर प्रवासी, सतत चिन्तित,
हृदय विभ्रम जनित आकुल अश्रु से मम पन्थ सिंचित।
ओ प्रकाश-विकास, ओ नव रश्मि हास-विलास रंजित,
मत चमकना अब, निराश्रित हूँ, शिथिल से गात हैं सब!

भगवतीचरण वर्मा

रंगों से मोह

मुझको रंगों से मोह, नहीं फूलों से।
जब ऊषा सुनहली जीवन-श्री बिखराती
जब रात रुपहली गीत प्रणय के गाती
जब नील गगन में आन्दोलित तन्मयता
जब हरित प्रकृति में नव सुषमा मुसकाती
जब जग पड़ते हैं इन नयनों में सपने ;
मुझको रंगों से मोह, नहीं फूलों से !

जब भरे-भरे-से बादल हैं घिर आते,
गति की हलचल में जब सागर लहराते
विद्युत के उर में रह-रह तड़पन होती
उच्छ्वास-भरे तूफान कि जब टकराते,
तब बढ़ जाती है मेरे उर की धड़कन,
मुझको धारा से प्रीति, नहीं कूलों से!

जब मुग्ध भावना मलय-भार से कंपित
जब विमुग्ध चेतना सौरभ से अनुरंजित,
जब अलस लास्य से हँस पड़ता है मधुवन
तब हो उठता है मेरा मन आशंकित
चुभ जायें न मेरे वज्र सदृश चरणों में
मैं कलियों से भयभीत, नहीं शूलों से!

जब मैं सुनता हूँ कठिन सत्य की बातें,
जब रो पड़ती हैं अपवादों

पल-भर परिचित वन-उपवन
परिचित है जग का प्रति कन!
फिर पल में वही अपरिचित
हम-तुम सुख-सुषमा, जीवन।
है क्या रहस्य बनने में?
है कौन सत्य मिटने में?

मेरे प्रकाश दिखला दो
मेरा खोया अपनापन!

मैं एकाकी

मैं एकाकी—है मार्ग अगम,
है अन्तहीन चलते जाना,
नभ में व्यापकता का संदेश,
क्षिति में सीमा से टकराना,
उजले दिन, काली रातों में,
लय हो जाते हैं हास-रुदन,
धुँधली चलकर इन आँखों ने
केवल सूनापन पहचाना।
है उस जीवन का छोर अगह,
मैं निर्बलता से चूर प्रिये!
उर शंकित है, पग डगमग हैं,
तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये!

लेकर अक्षय विश्वास, अरे!
उस दिन जब पत्थर के दिल में
मैंने जागृति का पाठ पढ़ा
सोने वालों की महफिल में,
'क्रंदन करना है अपकार'
तब पागल-सा मैं बोल उठा,

दीवानों की हस्ती

हम दीवानों की क्या हस्ती,
है आज यहाँ, कल वहाँ चले,
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले,

आए बनकर उल्लास अभी
आँसू बनकर बह चले अभी,

सब कहते ही रह गए, अरे,
तुम कैसे आए, कहाँ चले?

किस ओर चले? यह मत पूछो
चलना है, बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिए चले,
जग को अपना कुछ दिए चले,

दो बात कही, दो बात सुनी।
कुछ हँसे और फिर कुछ रोए।

छककर सुख-दुख के घूंटों को
हम एकभाव से पिए चले।

हम भिखमंगों की दुनिया में
स्वच्छन्द लुटाकर प्यार चले,
हम एक निसानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चले,

हम मान रहित, अपमान रहित
जी भरकर खुलकर खेल चुके,

हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले।

हम भला-बुरा सब भूल चुके,
नतमस्तक हो मुख मोड़ चले,
अभिशाप उठाकर होठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले,

बुरा न मानो जनम-जनम के हम तो प्रेम-दिवाने हैं।
इसीलिए हम तुमसे कहते हम तो निपट विराने हैं।

एक जलन-सी है साँसों में, एक पुलक है प्राणों में,
हमे नहीं कुछ भेद दीखता कलियों में, पाषाणों में।

कोमलता का प्रश्न सदा से
इन आँखों में कितना जल है?
औ' कठोरता पूछ रही है—
मन में बोलो कितना बल है?
हमें दूसरों से क्या मतलब?
अपने से उत्तर पाना है,
उलझे-उलझे केवल हम हैं,
यह दुनिया तो सहज-सरल है।

पाप-पुण्य, यश-अपयश, सुख-दुख—सब जाने-पहचाने हैं,
एक अकेले हम ही जग में अपने लिए बिराने हैं।

नहीं किसी से हमको कटुता, नहीं किसी पर क्रोध हमें
नत मस्तक, श्री-हत कर देता अपना ही अवरोध हमें।

दोस्त, हमारी तरह विश्व के
सब प्राणी हैं खोए-खोए।
अरे हँसे सब अपने मन से?
अपने मन से सब के रोए?
निरुद्देश्य-से, लक्ष्यहीन-से
सब अभाव में तड़प रहे हैं
करुणा-दया माँगते हैं वे
अपनी-अपनी व्यथा सँजोए।

देख चुके हम गिरते-उठते कितने महल-खजाने हैं
और इसी से हम कह उठते हम तो निपट विराने हैं।

हम ममता लेकर आए हैं, ममता देने आए हैं
ममता वालों के कोनों तक आते और दराते हैं,

इसीलिए हम तुमसे कहते
दोस्त, स्वयं का मान-दान है,

महादेवी

•

प्रतीक्षा

जिस दिन नीरव तारों से,
बोलीं किरणों की अलकें,
'सो जाओ अलसाई हैं
सुकुमार तुम्हारी पलकें!'

जब इन फूलों पर मधु की
पहली बूंदें बिखरी थीं,
आँखें पंकज की देखीं
रवि ने मनुहार भरी सी।

दीपकमय कर डाला जब
जलकर पतंग ने जीवन,
सीखा बालक मेघों ने
नभ के आँगन में रोदन,

उजियारी अवगुण्ठन में
विधु ने रजनी का देखा
तब से मैं ढूँढ रही हूँ
उनके चरणों की रेखा।

मैं फूलों में रोती, वे
बालारुण में मुस्काते,
मैं पथ में बिछ जाती हूँ,
वे सौरभ में उड़ जाते।

मेरे जीवन की जागृति!
देखो फिर भूल न जाना,
जो वे सपना बन आवे
तुम चिरनिद्रा बन जाना!

चिरन्तन प्रिय

प्रिय चिरन्तन है सजनि,
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं!

श्वास में मुझको छिपा कर वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया उसकी सजीली साध-सा बन
छिप कहाँ उसमें सकी
बुझ-बुझ जली चल दामिनी मैं!

छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बना कर
धूलि में निज अश्रु बोने मे पहर सूने बिता कर
प्रात में हँस छिप गई
ले छलकते दृग यामिनी मैं!

मिलन-मन्दिर मे उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुण्ठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता मे सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं!

दीप-सी युग-युग जलूँ पर वह सुभग इतना बता दे,
फूँक से उसकी बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं!

सजल सीमित पुतलियाँ, पर चित्र अमिट असीम का वह
चाह एक अनन्त बसती प्राण किन्तु स[illegible] यह
रज-कणों में खेलती [illegible]

तिमिर-पारावार में
आलोक-प्रतिमा है अकम्पित;
आज ज्वाला से बरसता
क्यों मधुर घनसार सुरभित?
सुन रही हूँ एक ही
झंकार जीवन में, प्रलय में?
कौन तुम मेरे हृदय में?

मूक सुख-दुख कर रहे
मेरा नया शृंगार-सा क्या?
झूम गर्वित स्वर्ग देता—
नत धरा को प्यार-सा क्या?
आज पुलकित सृष्टि क्या
करने चली अभिसार लय में?
कौन तुम मेरे हृदय में?

तुम मुझ में प्रिय

तुम मुझमें प्रिय! फिर परिचय क्या!
तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या!

तेरा मुख सहास अरुणोदय;
परछाईं रजनी विषादमय;
वह जागृति वह नींद स्वप्नमय;
खेल खेल थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या!

तेरा अधर-विचुंबित प्याला;
तेरी ही स्मित-मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला;

आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे है पांवडे पल के;
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में,
नील घन भी हूँ, सुनहली दामिनी भी हूँ!

नाश भी हूँ, मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी,
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मित की चांदनी भी हूँ!

शापमय वर

शलभ मैं शापमय वर हूँ! किसी का दीप निष्ठुर हूँ!

ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगारमाला,
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला,
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ!

नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी,
प्राण मैं कैसे बसाऊँ
कठिन अग्नि-समाधि होगी!
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ!

हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल,
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल,
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ!

तेरी निश्वासें छू भू को
बन-बन जातीं मलयज बयार;
केकी-रव की नूपुर-ध्वनि सुन
जगती, जगती की मूक प्यास!

इन स्निग्ध लटों में छा दे तन
पुलकित अंगों में भर विशाल;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल,
दुलरा देना, बहला देना,
यह तेरा शिशु जग है उदास!

खोलता है पंख रूपों में अँधेरा!

कल्पना निज देख कर साकार होते,
और उसमें प्राण का संचार होते,
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा!

अलस पलकों से पता अपना मिटा कर,
मृदुल तिनकों में व्यथा अपनी छिपा कर,
नयन छोड़े स्वप्न ने, खग ने बसेरा!

ले उषा ने किरण-अक्षत हास-रोली,
रात अंकों से पराजय-रेख धो ली,
राग ने फिर साँस का संसार घेरा!

कौन-सा साहस दिया जो
भूमि के सब भाग बाँधे।
भूमि-भागों के मुकुट पर
मुस्कराता त्याग बाँधे।
भूल कर भी जो हृदय पर खिल रहा है, हार हूँ मैं।
प्रिय! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं?

बहुत-सी बातें हुईं अब,
रात ढलती जा रही है।
कौन-सा पवन है जो,
साँस चलती जा रही है।
अवधि जितनी कम बची
उतनी मचलती जा रही है।
दीप्ति बुझने को नहीं
वह और जलती जा रही है।
मृत्यु को जीवन बनाने का अमिट अधिकार हूँ मैं।
प्रिय! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं?

रामधारी सिंह दिनकर

पुरुरवा

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ।
पर, सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ।
आग है कोई, नहीं जो शान्त होती,
और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है।

रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझको शान्ति से जीने न देती।
हर घड़ी कहती, उठो,
इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो,
पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूँगी,
अब नहीं आगे कभी उद्भ्रान्त हूँगी।

किन्तु, रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद यह आता,
'अभी तक भी न समझा?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।'

टूट गिरती हैं उमंगें,
बाहुओं का पाश हो जाता शिथिल है।

गौर चंपक-यष्टि-सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण में,
स्वर्ण की प्रतिमा कला के स्वप्न-साँचे में ढली-सी ?

यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगनचारी ! यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल, कर्पूर, कुंकुम से, कुटज से
इस अतुल सौन्दर्य का शृंगार कर लो।'

('उर्वशी' से)

हर एक फूल पर धूल-शूल के पहरे हैं,
इन सब अधरों पर गीत सिसक कर ठहरे हैं;
मैंने जब भी मुड़ कर देखा, यह ही पाया—
जो घाव किये मीतों ने, वे ही गहरे हैं;
उन घावों की बूँदों में एक लाचार घड़ी,
तड़पा करती है कसक बिचारी घड़ी-घड़ी,
उसकी लाचारी गीत, तड़प, संगीत, वचन बट जाना—
मैं अपनी दुनिया में खुश, तुम अपना संसार बसा लो!
तुम अपनी पीर सम्हालो!
मैंने जीवन में एक दोष बस यही किया,
अपनी भूलों को आगे बढ़ स्वीकार लिया,
यदि मिला दान में अमृत भी, ठुकरा आया—
अपने हाथों से अर्जन कर के गरल पिया,
यदि चाहा होता स्वर्ग मुझे था दूर नहीं,
मैं सच कहता हूँ, घायल हूँ, मजबूर नहीं,
अपना-अपना विश्वास, दूर या पास, पिया मिल जाने—
मेरी है अपनी राह, पथ तुम अपना और बना लो!
तुम अपनी पीर सम्हालो!

आज मगर मधु-भीगे-भीगे हो आए फनकार
खड़ा मैं सोच रहा हूँ—वह भी सच था, यह भी सच है।

कलियों का अपने ही दिल पर राज न होना
केवल भूत-भविष्यत होना, आज न होना
सच कहता हूँ बहुत ठोकरें खाती दुनिया
अगर प्यार का रूप कहीं मुहताज न होना

उसी प्यार को लेकिन गुंजलिका में कसकर
उस दिन रूप हँसा था लोचन में उभरकर
दबी-दबी आहों की तब जुट आईं लड़ियाँ
छन्द-सूत्र में पिरो, बनीं गीतों की कड़ियाँ
रूप उन्हीं गीतों का बनकर आया पहरेदार
खड़ा मैं सोच रहा हूँ—वह भी सच था, यह भी सच है।

मैं बहारों का अकेला बागबर हूँ,
मत सुखाओ!
मैं खिलूँगा तब नई बगिया खिलेगी!!

शाम ने सब के मुखों पर रात मल दी
मैं जला हूँ, तो सुबह लाकर बुझूँगा,
जिन्दगी सारी गुनाहों में बिताकर
जब मरूँगा, देवता बनकर पुजूँगा;
आँसुओं को देखकर मेरी हँसी तुम—
मत उड़ाओ!
मैं न रोऊँ, तो शिला कैसे गलेगी!!

इस सदन में मैं अकेला ही दिया हूँ,
मत बुझाओ!
जब मिलेगी रोशनी मुझसे मिलेगी!!

रामेश्वर शुक्ल अंचल

अनमनी

आज मैं कुछ अनमनी हूँ
शून्य में निर्जन खड़े ऊँचे महल-सी अनमनी हूँ
आज मैं कुछ अनमनी हूँ

आज उजड़ी लग रही मन में खिली चम्पा चमेली
आज दुर्दिन में शिला-सी रह गई हूँ मैं अकेली
प्राण पर छाया हुआ एकान्त दुनिया का निराला
ज्यों पवन-भोगी वनवनी-सी नमी में पर सँभाला
विकल मन की प्यास मुझसे ही स्वयं जानी न जानी
गीत अपनी बाँसुरी से आज पहचानी न जानी
आज बादल की नयी घुलती घुमड़-सी मैं घनी हूँ
आज मैं कुछ अनमनी हूँ

अर्धजागृत बीन की सिमटी झनक-सी अनमनी हूँ
ढूँढ़ने निकली कहाँ हूँ सागर में छोर मन का
है विकलता पर न मिलता क्यों किनारा विरह मन का
भेद तन-मन में अलग अपनी उदासी का न पाया
दीप में औ' स्नेह में जैसे मिलन होगी न छाया
है मुझे बेस्वाद अपने स्वप्न की मनुहार विह्वल
उर न पाता साथ जिसके वह उतरता रूप अविकल
आज अपने पर बड़ी सन्देह जैसी मैं सनी हूँ
आज मैं कुछ अनमनी हूँ

रामेश्वरी देवी चकोरी

•

मत दिखला मुझको सुख-स्वप्नों का सुन्दर संसार !
अरे, प्रलोभन-पूर्ण हटा ले जा अपना उपहार !
नहीं चाहिए मुझको तेरा वैभव-पूर्ण विषाद !
हाय ! चेतनाहीन करेगा, यह है कैसा नाद !
यहीं ध्वस्त हो जाने दे चिर संचित मधुर उमंगें !
दूर दूर, मत रोक मुझे, इस सरिता में बहने दे !
मौन स्वरों में विस्मृति की यह करुण-कथा कहने दे !

वीरेन्द्र मिश्र

सोना-चाँदी मखमल-रेशम-सा बिकता ईमान है
धूल उड रही राहों मे भटका-भटका इन्सान है
अनगिन कलम आस लगाए, खुले चोर बाजार पर
मुझको सपने की छाया मे रहने का अधिकार क्या!

मरुथल समझ न पाता है मेरी मधुमागी प्यास को
समय घसीटे लिये जा रहा मेरी जीवित लाश को
मैं बहार की करूँ कल्पना कैसे उस ससार मे
जो अब तक मानव की किस्मत बाँधे है तलवार मे
जहाँ मध्य-युग लौट रहा है सिद्धान्तो की आड मे
नया-नया ईंधन पडता है, सुलगे हुए पहाड में
मिट्टी की गुडियाँ नाचे है ज्वालाओं के ज्वार पर
तट पर बैठा बह जाने दूँ मैं उनको मझधार क्या!

जानकर ऋतुराज का नव आगमन
अखिल कोमल कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से !

अस्तमित निज कनक किरणों को तपन
चरम गिरि को खींचता था कृपण सा,
अरुण आभा में रँगा था वह पतन
रजकणों सी वासनाओं से विपुल !
तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में;
सांध्य निःस्वन-से गहन जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।
बुदबुदे जिन चपल लहरों में प्रथम
गा रहे थे राग जीवन का अचिर
अल्प पल, उनके प्रबल उत्थान में
हृदय की लहरें हमारी सो गईं !

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा
(कौन जाने, किस तरह?) पीयूष सा
एक कोमल समव्यथित निःश्वास था
पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा !
शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से !

इंदु पर, उस इंदु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य में !

रसिक याचक! कामनाओं के चपल,
समुत्सुक, व्याकुल पगों से प्रेम की
कृपण बीथी में विचर कर, कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला?

अनित्य जग

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस!

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार!
आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती सन्ध्या की ज्वाल!
अखिल यौवन के रंग-उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल;
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस सिवार,

गूँजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार!

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार, अज्ञात!

शिशिर सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों का फूल!

डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;
सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडुगन !
['परिवर्तन' से]

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन ?
नग्न क्षुधातुर, वास-विहीन रहे जीवित जन ?
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !
प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
गत युग के बहु धर्म-रूढ़ि के ताज मनोहर,
मानव के मोहान्ध हृदय में किए हुए घर !
भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर,
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

अखंड

मुट्ठी भर भर
मूल्यों के बीज
मैंने इधर उधर बखेर दिए हैं !
वे चिनगारियों - से

मैं शब्दों की
इकाइयों को रौंद कर
संकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा!
उनके परों को
असीम के पार
फैलाऊँगा!

मैं शाश्वत, निःसीम का
गायक और सृजक रहा
तो
सद्यः क्षणिक का भी
जनक हूँ!

मुझे
खंडित मत करो!
शाश्वत क्षणिक
दोनों ही
न रह पाएँगे!

संदेश

मैं खोया खोया सा, उचाट मन, जाने कब
सो गया, तल्प तर लुढ़क, अलस दोपहरी में,
दुःस्वप्नों की छाया से पीड़ित, देर तलक
उपचेतन की गहरी निद्रा में रहा मगन!

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असंतोष का भारी रीता बोझ जमा!
मन को कचोटती थी उधेड़बुन जाने क्या,
अज्ञात हृदय मंथन सा चलता था भीतर,—
अवसाद घुमड़ता था उर में कड़ुवा, फीका!
सब अस्त-व्यस्त विशृंखल लगता था जीवन,—

वह फूलों के मृदु मुखड़ों पर हँसने वाली
नीले ढालों पर सोने वाली सुघर धूप।—
वह हरी दूब के पाँवड़े पर चलने वाली
रेशमी लहरियों बीच विछल जाने वाली
वह मुक्ता स्मित सीपी के सतरंग पंख खोल
शत इंद्रधनुष फहराने वाली सजल धूप,—
वह चाँदी की शफरी सी उछल अतल जल से
चमकीला पेट दिखा अकूल के पावक का
मेरे कमरे के तुच्छ पटल पर, धूल भरे
मखमली गलीचे पर, चुपके सहमी बैठी,
मेरे कठोर उर को कृतज्ञता-कोमल कर
सुख द्रवित कर गई, प्रीति मौन संवेदन दे।

मैं उसे देख, श्रद्धा सम्भ्रम से उठ बैठा,
वह मुझे देख स्नेहार्द्र दृष्टि, मुसकुरा उठी।
वह विश्व प्रकृति की दूती बन कर आई थी,—
मैं स्मृति विभोर, स्वप्नस्थ हो उठा कुछ क्षण को,
वह मेरे ही भीतर मुझसे यों बोली —

"क्या हुआ तुम्हें, ओ जीवन शोभा के गायक,
तुम ज्योति प्रीति आशा के स्वर बरसाते थे।—
उल्लास मधुरिमा, श्री सुषमा के छंद गूँथ
तुम अमरों को कर स्वप्न मूर्त, भू पर लाते थे।
क्यों आज तुम्हारी वीणा वह निःस्वर पड़ी,
क्यों अब पावक के तार न मधु वर्षण करते?
कल्पना मोर के पंखों भी उठ लपटों में
क्यों नहीं स्वप्न पंखी उड़ान भरती नभ में?

"क्या सोच रहे हो? उठो, क्षुब्ध मन शान्त करो,
तुम भी क्या जग की चिन्ता के कर्दम में सन
संदेह दग्ध, उद्भ्रांत चित्त हो खोज रहे—
"क्या है जीवन का ध्येय, प्रयोजन सर्जन का,
सुख दुख क्यों है, मानव क्यों है, या तुम क्यों हो?
"तुम भी वादों के वेष्टन में मन को लपेट
मानव जीवन के अमित सत्य का विकृत रूप

फिर स्वप्न चरण धर विचरो शाश्वत के पथ मे,
कल्पना सेतु बाँधो भावी के क्षितिजों मे!
"मन को विराट् की आत्मा से कर सर्वयुक्त
तुम प्यार करो, सुदरता से रहना सीखो,—
जो अपने ही मे पूर्ण स्वय है, लक्ष्य स्वय!
कवि, यही महत्तर ध्येय मनुज के जीवन का!"

मैं मन की कुंठित कूप वृत्ति से बाहर हो,
चिन्ताओं के दुर्बोध भँवर से निकल शीघ्र
पाहुन प्रकाश के निरवधि क्षण में डूब गया,—
सुनहली धूप के करतल के शाश्वत मे लय!
मन से ऊपर उठ, तन की सीमाओ से कढ,
फिर स्वस्थ समग्र, प्रफुल्ल पूर्ण बन, मोह मुक्त,
मैं विश्व प्रकृति की महदात्मा में समा गया!

मुझको प्रसन्न मन देख, धूप सकुचा कुम्हला
बोली, "अब विदा! मुझे जाना है!—वह देखो,
किरणें अस्ताचल पर कचन पालकी लिए
मुझको ठहरी हैं, क्षितिज रेख का सेतु बाँध!

"युग सध्या यह, अस्तमित एक इतिहास वृत्त,
ढलने को ब्रह्म अहन्, बुझने को कल्प सूर्य,
मुँदने को मानस पद्म,—उदित ज्योतिर्मय कवि,-
घूमता विवर्तन चक्र, आज सक्रांति काल!—

"यदि अधकार का घोर प्रहर टूटे तुम पर,
तो मुझे स्मरण रखना, यह ज्योति धरोहर लो,—
जब होगी मानस ग्लानि, घिरेगी मोह निशा,
मैं नव प्रकाश सदेशवाह बन जाऊँगी,
सध्या पलको मे झुला सुनहले युग प्रभात!"

यह कह वह अतर्धान हो गई पल भर मे,
सिमटा अपने आभा के अगो को उर मे!

चूक-क्षमा माँगी नही,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही–
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए,
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंको की झड़ियो से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती,—
चकित चितवन निज चारो ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज-पास,
नम्रमुखी हँसी-खिली,
खेल रंग, प्यारे-संग ।

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओठ जब जाते
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते?—
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दुख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप",
है गूँज रहा सब कहीं—

व्योम-मण्डल में—जगतीतल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल-कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्षस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप,"
है गूँज रहा सब कहीं—
और क्या है? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,

सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने,
अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

चूम कलियों के मुद्रित दल,
पत्र-छिद्रों में गा निशि-भोर
विश्व के अन्तस्तल में चाह,
जगा देती हो तड़ित-प्रवाह

प्रगल्भ प्रेम

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़ कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण,
कण्टकाकीर्ण
कैसे होगी उससे पार !
काँटों में अंचल के तेरे तार निकल जायेंगे
और उलझ जायेगा तेरा हार
मैंने अभी-अभी पहनाया
किन्तु नजर भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया।
मेरे जीवन की तू प्रिये, साधना,
प्रस्तरमय जग में निर्झर बन
उतरी रसाराधना !
मेरे कुंज-कुटीर-द्वार पर आ तू
धीरे-धीरे कोमल चरण बढ़ा कर,
ज्योत्स्नाकुल सुमनों की सुरा पिला तू
प्याला तुम करों का रख अधरों पर !
बहे हृदय में मेरे, प्रिय, नूतन आनन्द प्रवाह,
सकल चेतना मेरी होए लुप्त
और जग जाये पहली चाह !
रक्खूं तुझे ही चकित चतुर्दिक,
अपनापन मैं भूलूँ,
पड़ा पालने पर मैं सुख से लता-अङ्क के झूलूँ,
केवल अन्तस्तल में मेरे सुख की स्मृति की अनुदत

शिवमंगल सिंह सुमन

बात की बात

इस जीवन में बैठे ठाले
        ऐसे भी क्षण आ जाते हैं
जब हम अपने से ही अपनी–
        बीती कहने लग जाते हैं

तन खोया-खोया-सा लगता
        मन उर्वर-सा हो जाता है
कुछ खोया-सा मिल जाता है
        कुछ मिला हुआ खो जाता है

लगता; सुख-दुख की स्मृतियों के
        कुछ बिखरे तार बुना डालूँ
यों ही सूने में अन्तर के
        कुछ भाव-अभाव सुना डालूँ

कवि की अपनी सीमाएँ हैं
        कहता जितना कह पाता है
कितनी भी कह डाले, लेकिन
        अनकहा अधिक रह जाता है

यों ही चलते-फिरते मन में
        बेचैनी-सी क्यों उठती है ?
बसती बस्ती के बीच सदा
        सपनों की दुनिया लुटती है ?

चिर-परिचय-हीन प्रवासी-सा
पग-पग पर ठोकर पर ठोकर
खाने को मैं मजबूर हुआ

तुम पूछ रहे मेरा परिचय
तुम पूछ रहे मेरा निश्चय
मैं क्या जानूं इस जगती में
अभिशाप रूप हूँ या वर हूँ
मैं पथ का कंकड़-पत्थर हूँ

आँखों के रहते भी अन्धे
आकर मुझसे टकरा जाते
गर्वित निज बल की क्षमता में
दो लातें और जमा जाते

मैं लुढ़क पुढ़क टकटकी बाँध
परखा करता उनकी कीमत
जग की मुझ ऐसे दीन - हीन
फटी आँखों भी कब भाते

हरिवंश राय बच्चन

इस पार—उस पार

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

यह चाँद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का,
लहरा-लहरा यह शाखाएँ
कुछ शोक भुला देतीं मन का,
कल मुर्झानेवाली कलियाँ
हँसकर कहती हैं, मग्न रहो,
बुलबुल तरु की फुनगी पर से
संदेश सुनाती यौवन का,
तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का
उपचार न जाने क्या होगा।

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

जग में रस की नदियाँ बहतीं,
रसना दो बूँदें पाती है,
जीवन की झिलमिल-सी झाँकी
नयनों के आगे आती है,

अँधेरी रात में

अँधेरी रात में दीपक जलाए कौन बैठा है ?

उठी ऐसी घटा नभ में
छिपे सब चाँद औ' तारे,
उठा तूफान वह नभ में
गए बुझ दीप भी सारे,
मगर इस रात में भी लौ
लगाए कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक ....?
गगन में गर्व से उठ-उठ,
गगन में गर्व से घिर घिर,
गरज कहती घटाएँ हैं
नहीं होगा उजाला फिर;
मगर चिर ज्योति में निष्ठा
जमाए कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक ....?
तिमिर के राज का ऐसा
कठिन आतंक छाया है,

जीवन में मधु का प्याला था,
तुमने तन-मन दे डाला था,
वह टूट गया तो टूट गया,
मदिरालय का आँगन देखो,
कितने प्याले हिल जाते हैं,
गिर मिट्टी में मिल जाते हैं,
जो गिरते हैं कब उठते हैं,
पर बोलो टूटे प्यालों पर
कब मदिरालय पछताता है।
जो बीत गई सो बीत गई।
मृदु मिट्टी के हैं बने हुए,
मधुघट फूटा ही करते हैं,
लघु जीवन लेकर, आए हैं,
प्याले टूटा ही करते हैं,

जब असम्भव छोड़ यह पथ
दूसरे पर पग बढ़ाना,
तू इसे अच्छा समझ
यात्रा सरल इससे बनेगी,
सोच मत केवल तुझे ही
यह पड़ा मन में बिठाना,
हर सफल पंथी यही
विश्वास ले इस पर बढ़ा है,
तू इसी पर आज अपने
चित्त का अवधान करले।
पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान करले।

है अनिश्चित किस जगह पर
सरित, गिरि, गह्वर मिलेंगे
है अनिश्चित किस जगह पर
बाग, वन सुन्दर मिलेंगे,
किस जगह यात्रा खतम हो
जायगी यह भी अनिश्चित,
है अनिश्चित, कब सुमन, कब
कंटकों के शर मिलेंगे,
कौन सहसा छूट जाएँगे
मिलेंगे कौन सहसा;
आ पड़े कुछ भी, रुकेगा
तू न, ऐसी आन करले;
पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान करले।

कौन कहता है कि स्वप्नों
को न आने दे हृदय में,
देखते सब हैं इन्हें
अपनी उमर, अपने समय में,
और तू कर यत्न भी तो
मिल नहीं सकती सफलता,

खण्ड तीन

छायावाद के बाद

° ° °

अजितकुमार

•

अनन्तकुमार पाषाण

एकान्त-संगीत

सड़क है लम्बी सपाट,

आदमी अकेला है।
ट्राम का न नाम लो
डिब्बा है टीन का;
गाने का मूड है,
तार कसी बीन का!

लो फिर आलाप एक, स्वीकारो शाप एक—
"सड़क है लम्बी सपाट, आदमी अकेला है!"

लोप पर लोप है—ढेर-सी इमारतें,
बुझी हुई जोत है—सूखा हुआ स्रोत है—
गला है बेसुरा—सस्ता सुर सुरसुरा।
आँख जरा मींचो तो, तार जरा खींचो तो,
होठों को भींचो तो, दांतों को जांतो तो,
सचमुच यह चलेगा। बुझा दीप जलेगा।
दीप राग गाऊंगा! सावधान हो जाओ—
हा-हा-हा हा-हा-हा—
सड़क है लम्बी सपाट,
औरत के बिना यहां आदमी अकेला है!

प्रेम का बुखार हो—एक सौ चार हो!
और कुछ हो-न-हो—'चार मीनार' हो!

उस शोर में सोना पड़ेगा
जहाँ हार्न मोटर के
कानों के पर्दों को फाड़ेंगे ।
तुम्हें ऐसी औरतों से हँस-हँस कर आहिस्ते-आहिस्ते
बातें शायद करनी पड़ें,
जो तुम्हें बचाने को प्रेम करने लगें,
बातों-ही-बातों में आहें भरने लगें;
तुम्हें शायद ऐसे आदमियों की बातें सुननी पड़ें,
जो बेवकूफ हों और शायद जो
बहुत बुद्धिमान हों,
दुनिया की मशीन को
खोल कर तेल लगा ठीक करने वाले हों ।
शायद तुम्हें हाथों में हार लिये,
आँखों में प्यार लिये
नग्न प्रतिष्ठा के दर्शन हो ही जायें,
शायद तुम्हें काले नकाब वाले
मोटे से घोर कलश सोने के लाकर दें,
मगर सिर्फ एक बात याद सदा कर लेना—
तुम किसके बेटे हो ?

उजड़ा घर

कल मैं उस मकान में जा कर,
रहा ढूंढता तुमको दिन भर,
जिसके उस पीछे बरामदे में हम चाय पिया करते थे ।
मोटे कप, भद्दी तश्तरियाँ,
सरकंडे की मेज-कुर्सियाँ,
प्याले बनें चाय के ठंडे हो जाते थे पड़े-पड़े ही—
हम गुमसुम खोये ऊबे-से केवल देख लिया करते थे ।
दूर पहाड़ी पर घुट-घुट कर टट्टू हाँफे-हाँफे जाते थे,
धुँधला शहर डूब जाता था,

अशोक वाजपेयी

ईश्वर

मैंने उसे देखा नहीं था
पर अंधेरे में भी परिचित उस सड़क पर जाते हुए
उसे साथ चलते मैं अनुभव करता रहा था
—जब सामने से आती किसी कार की रोशनी में
मैं छिप जाता था
        पहचाने जाने के डर से
तो वही बहुत पास सुनाई दे जाती थी
        एक संगीत चाप
और फिर मैं जब मकान में घुस कर
अपनी घबराहट और उत्तेजना में
सीढ़ियों पर लड़खड़ा गया था
तो मुझे लगा था कि उसने मुझे सम्हाल लिया है।
कमरे के सुगंधित अंधेरे में
वह विभोर थी प्रतीक्षा में
चुम्बन में बंधते
हमने कृतज्ञता अनुभव की थी
कि वह कमरे के बाहर कहीं
        रखवाली कर रहा है।
धीरे-धीरे जब हम उसे भूल गये
एक-दूसरे में डूबते
हम जब विह्वल होकर

जीवन को जीवन में मिल कर ही बल मिलता,
औरों में खो कर ही अपना सम्बल मिलता;

जीवन तुम तुच्छ नहीं, मेरी दृष्टि छोटी है,
तुम यदि विस्तार हो, मेरी परख छोटी है।

रोम-रोम रोया पीड़ा में
भीगा मेरा गात,
पहुँचा दायाँ हाथ हृदय पर
ज्यों सहने आघात,
बार-बार फिर निकला मुख से
राम-राम अवदात !

रोम-रोम रोया पीड़ा से
काँपी मेरा गात,
पहुँचा दायाँ हाथ हृदय पर
ज्यों सहने आघात,
बार-बार फिर निकला मुख से
राम-राम अवदात !

और किसी रेती पर गिर रस सो जाये—
नयी लहर के लिए !
व्यथा को एक दो—वह भी अपने दो नन्हें—
कटे हुए डैनों पर,
आने वाले पावन भोर की किरन पहली
तोल कर बिखर जाये,
हार जाये—
नयी व्यथा के लिए !
माटी को एक दो—वह भीजे, सरसे, फूटे, अँगुआये,
इन मेड़ों से लेकर उन मेड़ों तक छाये,
और कभी न हारे,
[यदि हारे]
तब भी उसके माथे पर हिले,
और हिले,
और उठती ही जाये—
यह दूब की पताका—
नये मानव के लिए !

प्यार-रेखा

एक रेखा
जो कि बँधती ही नही है;
कभी तुममें,
कभी मुझमें कौंध जाती है
हम उसी को प्यार करते हैं !

एक इंगित से बराबर
वह हमें
वन, कुंज, झीलों-हंसकूलों पर बुलाकर
खुद न जाने किस गहन में
चली जाती है !

शामें बेच दी हैं !

शाम बेच दी है
भाई, शाम बेच दी है,
मैंने शाम बेच दी है !

वो मिट्टी के दिन, वो घरौंदों की शाम,
वो तन-मन में बिजली की कौंधों की शाम,
मदरसों की छुट्टी, वो फन्दों की शाम,
वो घर-भर में गोरस की गन्धों की शाम,
वो दिन भर का पढ़ना, वो मुल्लों की शाम,
वो वन-वन के बागों-बबूलों की शाम,
सिटकियाँ पिता की, वो डाँटों की शाम,
वो बंसी, वो डोंगी, वो घाटों की शाम,
वो बाहों में नीले आसमानों की शाम,
वो बस तोड़-तोड़ उठे गानों की शाम,
वो लुकना, वो छिपना, वो चोरी की शाम,
वो ढेरों दुआएं, वो लोरी की शाम,
वो बरगद पे बादल की पाँतों की शाम,
वो चौपट, वो चूल्हे से बातों की शाम,
वो पहलू में किस्सों की थापों की शाम,
वो सपनों के घोड़े, वो टापों की शाम,

वो नये - नये सपनों की शाम बेच दी है,
भाई शाम बेच दी है, मैंने शाम बेच दी है।

वो महकों की शाम, बयाबानों की शाम,
वो टूट रहे जीवन के मानों की शाम,
वो गुम्बद की ओट हुई झेंपों की शाम,
हाट-बाटों की शाम, थकी खेपों की शाम,
तपी साँसों की तेज रक्तवाहों की शाम,
वो दुराहों-तिराहों-चौराहों की शाम,
भूख-प्यासों की शाम, रुंधे कंठों की शाम,
लाख झंझट की शाम, लाख टंटों की शाम,
याद आने की शाम, भूल जाने की शाम

और शायद एक बिन्दु है
जो हर दृश्य को
जादुई शीशे की तरह समय में उछाल देता है।

एक चुपचाप निर्णय
जिसे कोई नहीं लेता
हर खतरे को हवा के रुख पर टाल देता है।

और हवा भी स्वतन्त्र नहीं है
कुछ भी चुनने के लिए।
सूरज खींच रहा है सारी चीजों को
धूप के अन्तः संगीत में, बुनने के लिए।

और वह भी वहीं उसी में
बुन दिया गया है
जो कि बाहर है।

सिर्फ एक बच्चे की इकली पतंग
बुन दिये जाने के विरुद्ध
उड़ रही है;
और अब उड़ने की दिशा
और बुनने की क्रिया में
जरा-सा अन्तर है।

पेड़ बुन दिये गए हैं
नदियों की लय में,
और नदियाँ बुन दी गई हैं—
एक प्रागैतिहासिक स्मृतियों के जाल में

और हर गुलाब
जो किसी भी अक्षांश पर
खुलने के लि
न देश मे
न

पांव
उसके कुहासे में छटपटाते हैं !
इस अनागत को करें क्या हम
कि जिसकी सीढ़ियों की ओर
बरबस खिंचे जाते हैं !

कमरे का दानव

डरता नहीं हूँ !
मगर उसे जब देखता हूँ,
देखा नहीं जाता है !

आज भी खड़ा है वह
मेरे दरवाजे पर, मेरी प्रतीक्षा मे
बड़े-बड़े डैनों वाला कमरे का दानव !

फूल कब खिलते हैं,
त्यौहार कब आता है;
अकस्मात मौसम किस रोज बदल जाता है
उसे सब ज्ञात है !

इसीलिए कभी कुछ पूछता नहीं है;
जब बाहर से आता हूँ
चुपके से क्षत-विक्षत डैने उठाकर
मुझे जगह दे देता है !

मानो कहता हो :
'अब बहुत थक गये हो तुम,
थोड़ा विश्राम करो !'

सांझ के धुंधलके में
उठे हुए मेरे ये हाथ
बँध जाते हैं।

कभी-कभी उसकी गहरी नीली आँखों से
करुणा बरसती है !

सुलग रहे हैं चूल्हों में गीता के पन्ने !
सब आँखें खोखली
थकी हैं
सब बाँहें—
घूम रही है पहियों में दुनिया सारी
जाने क्यों
जाने क्यों चूड़ी, अक्षत, राखी, लोरी
अर्थ खो दिया है सब ने
अपना-अपना
कोयल की आवाज सिर्फ
बच्चे सुनते हैं
बाकी लोग
व्यस्त रहते हैं
लोग—
प्रतीक्षा विदा
या कि अभिवादन आदि नहीं करते
लोग सिर्फ
सदाय करते हैं।

अभी-अभी इस नये मोड़ से
रेखा-सी खिंचती हुई
कोई अदृश्य आवाज गयी थी
मुझे देख कर
ठिठकी—बोली :
'आँख मूँद लो
ढँक लो माथा, आँख मूँद लो
उस सबसे जो दिखता है
आँख मूँद लो
उस प्राणी की तरह कि जो तूफान देख कर
आँख मूँद लेता है फिर
मन में कहता है
बाहर कोई भी तूफान नहीं आया है !'
मैंने पूछा ऐसा क्यों ?
यह विकृति है

सुलग रहे हैं चूल्हों में गीता के पन्ने !
सब आँखें खोखली
थकी हैं
सब बाँहें—
घूम रही है पहियों में दुनिया सारी
जाने क्यों
जाने क्यों चूड़ी, अक्षत, राखी, लोरी
अर्थ खो दिया है सब ने
अपना-अपना
कोयल की आवाज सिर्फ
बच्चे सुनते हैं
बाकी लोग
व्यस्त रहते हैं
लोग—
प्रतीक्षा विदा
या कि अभिवादन आदि नहीं करते
लोग सिर्फ
समय करते हैं ।

अभी-अभी इस नये मोड़ से
रेखा-सी खिंचती हुई
कोई अदृश्य आवाज गयी थी
मुझे देख कर
ठिठकी—बोली :
'आँख मूंद लो
ढँक लो माथा, आँख मूंद लो
उस सबसे जो दिखता है
आँख मूंद लो
उस प्राणी की तरह कि जो तूफान देख कर
आँख मूंद लेता है फिर
मन में कहता है
बाहर कोई भी तूफान नहीं आया है !'
मैंने पूछा ऐसा क्यों ?
यह विकृति है

पांव है प्यासा, थका-सा धूप में
पीठ पर है ज्ञान की गठरी बड़ी,
झुक रही है पीठ, बढ़ता बोझ है
यह रही बेगार की यात्रा कड़ी।

अर्थ-खोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह?
अर्थ क्या? ललकार मेरी है प्रखर।

जबकि ऐसा ज्ञान मेरे प्राण में
तृप्ति-मधु उत्पन्न करता ही नहीं,
जब कि जीवन में मधुर सम्पन्नता
ताजगी, विश्वास आता ही नहीं,

जबकि शकाकुल तृषित मन खोजता
बाहरी मरु में अमल जल-स्रोत है,
क्यों न विद्रोही बनें ये प्राण जो
सतत अन्वेषी सदा प्रद्योत है!

जबकि अन्दर खोखलापन कीट-सा
है सतत घर कर रहा आराम से,
क्यों न जीवन का बृहद् अश्वत्थ यह
डर चले तूफान के ही नाम से!

मैं दूर हूँ

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है।

मेरी असंग स्थिति में चलता-फिरता साथ है,
अकेले में साहचर्य का हाथ है,
उनका जो तुम्हारे द्वारा गर्हित हैं

गजानन माधव मुक्तिबोध

नूतन अहं

कर सको घृणा
क्या इतना
रखते हो अखंड तुम प्रेम ?
जितनी अखंड हो सके घृणा
उतना प्रचंड
रखते क्या जीवन का व्रत नेम ?
प्रेम करोगे सतत ? कि जिससे
उससे उठ ऊपर बह लो
ज्यों तल पृथ्वी के अंतरंग
में घुस निकल झरना निर्मल वैसे तुम ऊपर बह लो
क्या रखते अन्तर में तुम इतनी ग्लानि
कि जिससे मरने और मारने को रह लो तुम तत्पर
क्या कभी उदासी गहरी रही
सपनों पर, जीवन पर छायी
जो पहना दे एकाकीपन का लोह-वस्त्र, आत्मा के तन प
है खत्म हो चुका स्नेह-कोष सब तेरा
जो रखता था मन में कुछ गीलापन
और रिक्त हो चुका गर्व-कोष
जो चिर-विरोध में रखता था आत्मा में गर्मी, सहज म
मधुर आत्म-विश्वास ।
है सूख चुकी वह ग्लानि
जो आत्मा को बेचैन किये रखती थी अहोरात्र
कि जिससे देह सदा अस्थिर थी, आँखें लाल, भाल पर
तीन उग्र रेखाएँ, अरि के उर में तीन शलाकाएँ सुतीक्ष्ण
किन्तु आज लघु स्वार्थों में घुल, क्रन्दन-विह्वल,
अन्तर्मन यह टार रोड के अन्दर नीचे बहनेवाली गटरों
है अस्वच्छ अधिक,
यह तेरी लघु विजय और लघु हार
तेरी इस दयनीय दशा का लघुतामय संसार
अहंभाव उत्तुंग हुआ है तेरे मन में
जैसे घूरे पर उठता है

गिरिजाकुमार माथुर

चूड़ी का टुकड़ा

आज अचानक सूनी-सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था,
किसी काम में जी बहलाने,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा,
गिरा रेशमी चूड़ी का
छोटा-सा टुकड़ा,
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं,
रंग भरी उस मिलन-रात में !
मैं वैसा-का-वैसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें ।
दूज-कोर से उस टुकड़े पर
तिरनें लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली,
कसे हुए बंधन में चूड़ी का झर जाना,
निकल गईं सपने जैसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा,
यही छोटा-सा टुकड़ा !

तब जानोगे इन आदर्शों की सच्चाई
हमने भी सोचा था पहले
इस जीवन में
सबसे अधिक मूल्य प्यारा कोमल भावों का
पर ठोकर-पर-ठोकर खाकर हमने जाना
और समाज के पत्थरों में
मन के सपनों से बाहर के सपने
अधिक बोझल हैं
और हृदय की कलियाँ खिलतीं नहीं
रुपयों की धूपों में
और प्यार के गीत बदल गये
जीवन की सड़कों पर आकर

हमको भी है ज्ञान विरह का
और मिलन का
यह मत समझो पत्थर बन गया हृदय हमारा
या कालान्तर में पथराये भाव हमारे
या हमको है नहीं किसी की याद सताती
पर वह तुमसे बहुत भिन्न है
हम मन में सुधि रखकर भी
है कर्मशील
है सपनों में डूबे भूले
हम डटकर जीवन में युद्ध कर रहे प्रतिपल
आज हमारे सम्मुख और समस्याएँ हैं
प्रश्न दूसरे
घर के, बाहर के, समाज के
मुल्क और दीगर मुल्कों के

अब हमको सुधि की पीड़ा है नहीं सताती
केवल ध्यान यही आता है
आज न बच्चे घर में हैं कूड़ा करने को
खूब सफाई है आँगन, छत पर, कमरों में
पर कुछ खाली-खाली-सी है
आज नहीं अच्छी लगती यह

गिरिजाकुमार माथुर

तूफ़ान एक्सप्रेस की रात

रात के अंधेरे में डूबी हुई
शहर, कस्बे, गाँव, खेत, जंगलों की
स्याह रजीदा जमीन को
इंजन के मोटे बड़े पहिए
पिस्टन के आगे-पीछे चलते गजों से
नापते चले जाते हैं
नीचे दबी कमजोर व्यक्ति-सी धरती
सिमटती चली जाती है
जैसे सिलाई की मशीन के नीचे
तेजी से पीछे को कपड़ा खिसकता है
तार के खंभों पर
खिंचे हुए ताम्र सूतों की घनी पाँतियाँ
सुधि के द्रुत डोरों-सी
खामोशी से सरसर करती
भागती चली जाती हैं
भूमि की असमता से
ऊँची-नीची होती हुई

दोनों तरफ़ बाहर
अंधेरे की कालौंच ने
खिड़कियों के शीशों को
दर्पण बना डाला है
जैसे वह काजल धुआँ लगा काँच हो
जिसमें हम सूर्य-ग्रहण
देखने के बजाय
भीतर की बत्तियों का
आपस की सूरतों का
अक्स देख रहे हों
अक्स देखने के हम आदी हैं
आदमी न देखते, अक्स देखते हैं

रात का सुनसान मसकता है
जिसमें सोते हुए झोंपड़ों

गिरिजाकुमार माथुर

दर्द के सफर का
क्या अंत पास आया है
दिखता नहीं है कुछ
आँखें वही और हैं
टूटती नहीं है दर्द दुख की घुमेर यह
झूठ सभी लगता है
सच है सिर्फ अंधकार
गति की अखंडता !

दो पाटों की दुनियाँ

चारों तरफ शोर है
चारों तरफ भरापूरा है
चारों तरफ मुर्दनी है
भीड़ें और कूड़ा है
हर सुविधा
एक ठप्पेदार अजनबी उगाती है
हर व्यस्तता
और अधिक अकेला कर जाती है
—हम क्या करें
भीड़ और अकेलेपन के क्रम से कैसे छ

राहें सभी अन्धी हैं
ज्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या गाफिल हैं
खल-नायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े से ईमानदार
लगते सिर्फ मुजरिम हैं
—हम क्या करें
अविश्वास और आश्वासन के क्रम से ॥

गिरिजाकुमार माथुर

अंतहीन सुधि मलीन
सदियों के मंडप में
अंकित तस्वीर है
वर्षों पर वर्षों में
दर्पण पर दर्पण ज्यों
दर्पण अनन्त छोर
जिन पर पड़ी है
यवनिका अतीत की
मलों के कुहरे की
देखो यह खुलता है
पर्दा तुषार का
देखो यह वर्षों के
दर्पण की पंक्तियाँ
अनगिनती चमकीली पंक्तियाँ
अनश्वर गुलदस्तों से
जिनमें हैं जमे बिम्ब
छूटें, गत-यथार्थों के
मधुमक्खियों से युग
'एम्बर' के लाल मोतियों में सुरक्षित हैं
कितने करोड़ काल
झरती गरम वाष्पों के
गोंद भरे रिसते हुए 'फंगस वनों' के
दैत्य जंतुओं के
शिलावत् गगन से टूट गिरते हिम युगों के
जिनके अनुपात में
यह मानव की संस्कृतियाँ
आदमखोर शिशु हैं
साधन ही बदले
न बदलीं प्रवृत्तियाँ
मारण-उच्चाटन की
छीनने हड़पने की
रक्त-प्यास, लोलुपता, आक्रमण, बलात्कार
अस्थि-अस्त्र से ले कर अणुओं की चीत्कार

जगदीश गुप्त

•

मिलन क्षण

मिलन के उस अप्रत्याशित क्षण के अन्तराल में
दोनों ने एक दूसरे को देखा—
देखते रहे—देखते रहे ।

पलकों पर चुम्बन के फूल नहीं बरसे,
हमेशा की तरह
अधरों तक अधर नहीं गये,
गरम श्वासों में उलझ कर अलकें नहीं काँपीं,
बस दोनों ने एक दूसरे को देखा—
देखते रहे—देखते रहे ।

बाहर सब कुछ स्थिर, सब कुछ अचल
भीतर समुद्र उमड़े, प्रभंजन बहे, बादल घहराये,
प्रलय हुई, धरती डूबी-उतराई,
सृष्टि का प्रत्येक चिह्न मिटने लगा—मिट गया

पलकें न झुकीं, न गिरीं—
    —एक काली छाया थी जो आँखों से निकल कर
आँखों में तैर गयी;

    —एक जहर था जो पुतलियों में—
सिमटता रहा—सिमटता रहा;
    —एक दर्द था जो आँसू न बन कर
सिर्फ दृष्टि बन गया था—

चाँद के सीने के उन दागों में जा छिपा है
जिन्हें चाँदनी स्पजल से धो-धोकर हार गयी।
पर जो अमिट थे—अमिट हैं;
मेरे इन सब बिखरे-बिखरे अंगों को
कौन संजोये
मुझे कौन पूरा करे,
पीली पत्तियों को फैलते जलवृत्तों में कौन बाँधे
बह जायेंगी वे।
काले दागों पर बहके सफेद बादलों को कौन साधे,
ढक जायेगा चाँद, खो जायेंगी चीलें।

आत्महत्या—एक अनुभूति

चाहता हूँ पा सकूँ
उस एक क्षण को
—नहीं—
क्षण के भी विभाजित
मात्र उतने अंश की अनुभूति
जितने में अनाहत धार जीवन की
अचानक मौत की काली गुहा में डूब जाती है।

चाहता हूँ शक्ति वह पहचान लूँ
जो स्निग्ध जीवन की शिराओं में
हलाहल-छाँह-सी अन्तर्निहित रहकर
गँठीली लौह निर्मित उँगलियों-सी ऐंठ
अन्तिम श्वास का दम घोंट देती है।

कौन-सा आघात, कैसा दर्द, कैसी व्यथा,
कैसी घुटन, कैसी छटपटाहट
जो कि सहसा उभर उठती उन्हीं प्राणों से
जिन्हें अस्तित्व अपना मान लेता है
तिमिर किसकी फटी आँखों का

जीवन के नग्न रूप, आदि-अंत ।
गुप्त-प्रकट, सूक्ष्म-स्थूल,
ओ अगाध, ओ अकूल !
आदि प्रकृति, आदि पुरुष,
ओ भूमा ! ओ विराट् !
पृथिवी को शीश धरे व्यालराट् ।
ओम्-तान-हीन दीन संस्कृति के नाद-बिन्दु !
क्षत-विक्षत
विग्रह-रत
युद्धोद्धत
मानव के तिमिर-ग्रस्त चिंतन के भानु-इन्दु !
यन्त्र-बाहु, यन्त्र-चरण, यन्त्र-हृदय, यन्त्र-बुद्धि,
सब कुछ यन्त्रित केवल इच्छाएँ अनियन्त्रित
अहो-रात्रि, सुबह-शाम ।
क्षुधा-काम ।
जयति क्षुधे !
रक्त-मांस-मज्जा के दाह से
दीपित जिसका माथा ।
भू...ख, भू...ख,
अवनी-अम्बर-व्यापी ध्वनियों से
विरचित जिसकी गाथा ।
जठर-ज्वलित काया को घेर कर
बज उठती आँतों की किंकिणी ।
पटरस का राग मुखर, ग्रास-रास-रंगिणी ।
अपने ही अंडे खा जाने वाली भुजंगी,
खिंची नसों वाली चामुंडा की प्रतिमा-सी,
आमाशय-वासिनी, भामिनि वसुधे !
जयति हुताशनतनये जयति क्षुधे !
जयति काम !
सृष्टि के विधायक, नायक, रतिपति,
गलित मुंड, पलित देह—
श्वान सदृश शुनि के पीछे धावित,
कुंठित अवचेतन उपचेतन के

जगदीश चतुर्वेदी

कुछ कुरेदता है

चाँदनी की मोटी परत में सोया हुआ शहर
इक्के, दुक्के आदमी अजनबियों से बौखलाए
पार्कों में कुछ जोड़े प्रेतात्माओं से विचरते
और अकेला मैं—
जैसे, मैं एक सोया हुआ शहर हूँ
जैसे, मैं एक खोया हुआ आकाश हूँ।

कुछ आकृतियाँ हिलती हैं
कुछ रिक्शे पास से गुजर जाते हैं,
चाँदनी गुम हो गई है इस गली में,
यहाँ केवल प्रेतात्माएँ जाग रही हैं।

गली में केवल मैं हूँ
और मेरा शून्य व्यक्तित्व...
न मुझमें कोई हरा प्रकाश है
न मुझमें कोई ठहरा जल है
मैं तो किसी बाँसुरी की भटकती एक आवाज हूँ
—जिसको सदियों पहले स्वर दिया गया था।
गहरे कहीं कुछ कुरेदता है मुझे
लगता है,
मुझ में कहीं एक ठहराव है,
अतृप्त आकांक्षाओं के निविड़ अंधकार में
एक सिमटता-सा प्रकाश-बिंदु,

यहाँ कोई भी नहीं है...
            ...कोई नहीं,
सभी हैं कटे हुए पेट
क्लोरोफार्म की ट्यूब में बंद गहमे में कीड़े
यहाँ कोई भी नहीं है,
शायद मैं भी
मस्तकहीनों का एक प्रेत हूँ—
            शापग्रस्त प्रेत !!

यहाँ कोई भी नहीं है. .
            ...कोई नहीं,
सभी हैं कटे हुए पेट
क्लोरोफार्म की ट्यूब में बंद सहमे से कीड़े
यहाँ कोई भी नहीं है,
शायद मैं भी
नस्लहीनों का एक प्रेत हूँ—
            शापग्रस्त प्रेत !!

दूधनाथ सिंह

•

अभिशाप

क्यों दी ये रौशन निगाहें कि देख लिया तुमको भी मैंने जन्मान्ध ?
क्यों दी यह निरपराध माया कि टूट गये सारे-के-सारे सम्बन्ध ?
क्यों दिया मौन—यह क्षय-रहित अन्तिम स्राव,
क्यों दिया इतना असह्य ज्ञान—निरन्तर वृद्धिमान एकाकी भाव !
क्यों दी इतनी अगाध पावनता कि प्यार नहीं कर सका तुमसे भी ?
क्यों दी यह अन्तहीन उदासीन ममता कि टूट गयी माया, जोड़ी जिससे भी ?
क्यों दिये गीत जिन्हें ऋतु नहीं मिली,
क्यों दिये मीत जिन्हें दृष्टि नहीं मिली,
क्यों दिये शब्द—शब्द-हीन;
शान्ति गूंज-हीन
जो कभी नहीं हिली ?

क्यों दिया समय जो फिरा नहीं, ताकता रहा ?
क्यों दिया अप्रतिहत जागरण, जो अनुदिन मारता रहा ?
क्यों दिया आंखों में रेत के फफोलों से भरा हुआ दरिया,
चेहरे पर घोंसला बनाये हुए, चित्र-लिखी, पंख-हीन एकाकिन चिड़िया।
इतना सब देने के बाद—
क्यों दी यह जीवन-जल की हरी-हरी सतह ? तब क्यों दी ?
स्वामी ! मैं खड़ा हूँ तुम्हारे साथ
डूबता नहीं।

हवाओं में हम जितने खुले हैं
उससे कहीं अधिक
दिशाओं में बन्द हैं

पृथ्वी का वह हिस्सा
जो समुद्र की चंगुल में फँसा है
मेरा देश है !

सीने का पहाड़ सुरक्षित है
मगर सर के पहाड़ से
दब गया है, मस्तिष्क का सबसे कोमल भाग
शायद यह मेरा धर्म है !!

मैंने, सिर्फ मैंने, बेफायदा समझ कर अब
बन्द कर दिया है चुनौतियाँ स्वीकारना !

सुखद है धीरे-धीरे बूढ़े होते हुए
गुफा में लेट कर समुद्र को पछाड़ें खाते हुए देखना

कभी-कभी अब भी छलांग कर समुद्र पार करने का
कोई दुस्साहसी स्वप्नदर्शी भटक कर इस
गुफा में आता है
कहता हूँ मैं आ अनुज ! आ ओ अनुगामी तू मेरा आहार है
(क्यों, आखिर क्यों वह मुझे याद दिलाता है
मेरे उस रूप की, भूलना जिसे अब मुझे ज्यादा अनुकूल है !)

उसके उत्साह को हिकारत से देखता हुआ
मैं फिर फटकारता हूँ अपने अधजले पख
क्योंकि वे सनद हैं
कि प्रामाणिक विद्रोही मैं ही था, मैं ही हूँ

नहीं, अब कोई संघर्ष मुझे छूता नहीं
वह मैं नहीं,
मेरा भाई था जटायु
जो व्यर्थ के लिए जा कर भिड गया दशानन से
कौन है सीता ?
और किसको बचाएं ? क्यों ?
निरादृत तो आखिर मे दोनों ही करेंगे उसे
रावण उसे हार कर और राम उसे जीत कर
नहीं, अब कोई चुनौती मुझे छूती नहीं
....
गुफा में शांति है...
....
कौन हैं ये समुद्र-विजय के दावेदार
कह दो इनसे कि अब यह सब बेकार है
साहस जो करना था कब का कर चुका मैं
ये क्यों कोलाहल कर शांति-भंग करते हैं
देखते नहीं ये
कि सुखद है मेरे लिए झुर्रियाँ पड़ती हुई पलकें उठा कर
गुफा में पड़े-पड़े समुद्र को देखना... ('तटस्थ' से)

नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

•

यश की बाँबियाँ : तृप्ति के सर्प

सब उदास
निर्जीव...
सन्नाटा...
सायं-साय सन्नाटा
लहर नही उठती है
कोई भी लहर नही उठती
लाश सृजन की पडी हुई
सम्मुख मेरे !

कोई भी लहर नही उठती !
अभी-अभी डँसकर सृजन को,
तृप्ति का नाग,
यश की बाँबियो मे खो गया है !

ओ, रे, ओ ! आह्वान सँपेरे,
बजाओ तो सही चेतना की बीन !
सभव, बहुत सभव,
साँप लौट आए,
सोख ले विष,
जी उठें मुर्दा धमनियाँ
बजाओ तो सही
चेतना की बीन !

बहुत सम्भव
साँप लौट आए !

नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

•

यश की बाँबियाँ : तृप्ति के सर्प

सब उदास
निर्जीव...
सन्नाटा...
सायं-सायं सन्नाटा
लहर नहीं उठती है
कोई भी लहर नहीं उठती
लाश सृजन की पड़ी हुई
सम्मुख मेरे !

कोई भी लहर नहीं उठती !
अभी-अभी डँसकर सृजन को,
तृप्ति का नाग,
यश की बाँबियों में खो गया है !

ओ, रे, ओ ! आह्वान सँपेरे,
बजाओ तो सही चेतना की बीन !
सम्भव, बहुत सम्भव,
साँप लौट आए,
सोख ले विष,
जी उठें मुर्दा धमनियाँ
बजाओ तो सही
चेतना की बीन !

बहुत सम्भव
साँप लौट आए !

नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

नागार्जुन

•

कालिदास के प्रति

कालिदास सच-सच बतलाना !
इन्दुमती के मृत्यु-शोक से
अज रोया या तुम रोए थे ?
        कालिदास, सच-सच बतलाना !

शिवजी की तीसरी आँख से
निकली हुई महाज्वाला से
घृतमिश्रित सूखी समिधासम
कामदेव जब भस्म हो गया
तुमने ही तो दृग धोए थे
        कालिदास, सच-सच बतलाना
        रति रोई या तुम रोए थे ?

वर्षा-ऋतु की स्निग्ध भूमिका
प्रथम दिवस आषाढ़ मास का
देख गगन में श्याम घनघटा
विधुर यक्ष का मन जब उचटा
चित्रकूट के सुभग शिखर पर
खड़े-खड़े तब हाथ जोड़कर
उस बेचारे ने भेजा था
जिनके ही द्वारा सदेशा,
उन पुष्करावर्त मेघों का
साथी बनकर उड़नेवाले—

नेमिचन्द्र जैन

सागर गरजता किसी बेकली का तुम्हारे
हृदय में—
इसीसे अभी चाहता था सुनाना
तुम्हें मैं—
सुनोगे ?
ओ सनसनाते हुए चीड़ के पेड़ !

मरुभूमि की भी कहानी सुनोगे ?

एकान्त

कितने दिनों के बाद आज फिर जब
तुमसे सामना हुआ
उस भीड़ में अकस्मात
जहाँ इसकी कोई आशंका न थी,
तो मैं कैसा अचकचा गया
रंगे हाथ पकड़े गये चोर की भाँति !
तुरत अपनी घोर अकृतज्ञता का
भान हुआ
लज्जा से मस्तक झुक गया अपने-आप !
याद पड़ा तुमने ही दिया था
वह बोध,
जो प्यार के उलझे हुए धागों को
धीरज और ममता से सँवारता है,
दी थी वह करुणा
जिसके सहारे
आत्मीयों के असह्य आघात सहे जाते हैं,
सह्य हो जाते हैं...
और वह अकुंठित विश्वास
कि जीवन में केवल प्रवचना ही नहीं है,
अन्तर की अकिंचनता में प्रतिष्ठित
सहयोगियों की कुटिलता ही नहीं है,

खण्डिता

तुम नही दोगी मुझे वह शांति
जो मैं खोजता हूँ,
भावना के धवल शुभ अक्षत चढा
अभिमान की आहुति बना
अस्तित्व के दीपक जला
जो वर विनत हो मांगता हूँ,
मूर्ति मेरी,
तुम नही दोगी मुझे ।

बदिनी हो तुम स्वय
अपनी परिधि की
छू जिसे नव ज्योति के आवर्त्त
आहत
लौट आते हैं निरंतर!
तुम प्रतिष्ठित हो
पुरानी प्राण की अधी गुहा मे
हैं जहाँ संस्कार जालों से लटकते,
काल की रूखी जड़ें
विक्षिप्त हो फैली जहाँ;
गुहा जिसमें स्नेह की रसधार बरसी ही नही
प्लावन न हो पाया प्रणय का,
नहीं चमकी बिजलियाँ अनुभूति की
बोध के आलोक की नव-नवल किरणें भी
न बिखरी चरण-तल मे!
बह गयी इतिहास की वन्या
अदम्या,
कर गया कम्पित, हृदय झकझोरता,
युग धर्म का अधड़
उबलता,
दूर तुमसे दूर—
तुम निर्वासिता हो

कि एक और नए दिन का सूरज
अपने घायल घोड़ो के रथ पर
चढ़कर आकाश के शून्य
विस्तारो में बढ़ने लगता है ।

कि एक और नए दिन का सूरज
अपने घायल घोड़ों के रथ पर
चढ़कर आकाश के शून्य
विस्तारों में बढ़ने लगता है ।

ईश्वर : एक सम्बोधन

कहते है—
जहाँ तुम रहते हो
वहाँ दूध और शहद की
नदियाँ बहती हैं,
वहाँ नन्दनवन और कल्पवृक्ष है—
ईश्वर !
आदम को क्षमा कर दो !
या, उसके अपराध की
अवधि नियत कर दो,
ताकि, कभी तो, कही तो
हम, नही तो, हमारे वशज ही
अपराध की उस छाया से छूट जाएँ,
जो रोज घायल सर्प के
आहत अह-सी
सड़कों बाजारों की भीड़ों में
हमारा पीछा करती है ।
अपराध की इस छाया का
हम क्या करें ?
यह तो हमसे भी
लम्बी हो जाती है ।
सुना है—
जहाँ तुम रहते हो,
वहाँ सब कुछ स्वय सिद्ध है
ईश्वर !

बालकृष्ण राव

•

नदी का रास्ता

नदी को रास्ता किसने दिखाया ?
सिखाया था उसे किसने
कि अपनी भावना के वेग को
उन्मुक्त बहने दे ?
कि वह अपने लिए
खुद खोज लेगी
सिन्धु की गम्भीरता
स्वच्छन्द बह कर !
इसे हम पूछते आये युगों से
और सुनते भी युगों से आ रहे उत्तर नदी का :
'मुझे कोई कभी आया नहीं था राह दिखलाने,
'बनाया मार्ग मैंने आप ही अपना,
'ढकेला था शिलाओं को;
'गिरी निर्भीकता से मैं कई ऊँचे प्रपातों में,
'वनों में कन्दराओं में
'भटकती, भूलती मैं
'फूलती उत्साह से प्रत्येक बाधा-विघ्न को
'ठोकर लगाकर, ठेलकर,
'बढ़ती गई आगे निरन्तर
'एक तट को दूसरे से दूरतर करती;
'बढ़ी सम्पन्नता के
'और अपने दूर तक फैले हुए साम्राज्य के अनुरूप
'गति को मन्द कर,
'पहुँची जहाँ सागर खड़ा था
'फेन की माला लिये
'मेरी प्रतीक्षा में ।

अभिव्यक्ति तो
होती ही रहती है,
मैं उसके ढग नही सोचता !

पहाड़ की ढलान पर
किसी ने मुझे धक्का दे दिया
और मेरी जिन्दगी ही बदल गयी !
मेरी टाँग टूट गयी
और मैं लँगड़ा कर चलने लगा !

अभिव्यक्ति अब
थोडी कोशिश से हुआ करेगी,
मगर मैं
उस कोशिश का
ढग नही सोचता !

जड़ होना चाहता हूँ

१
मुझे चेतन से घबराहट होती है,
मैं जड हो जाना चाहता हूँ।
सत्ता की समकालिकता से
चेतना नही बचा सकती मुझे,
मैं जड हो जाना चाहता हूँ।
कहते हैं चाहने से सब हो जाता है,
मैं जड हो जाना चाहता हूँ।
मैं कुछ हूँ इसलिए
कुछ नही तो नही हो सकता,
जड हो सकता हूँ;
मैं जड़ हो जाना चाहता हूँ।
मुझे चेतना से घबराहट होती है !
जडो की दुनियाँ में
सुख है,

झूठ-मूठ प्यार करो, झूठ-मूठ शरम करो
झूठ-मूठ सत्य कहो, झूठ-मूठ धर्म करो
चेतना का मतलब है
डग-डग पर सलामी !
चेतना, घिनापन में
रच-रच संजोती है
मैं जड़ हो जाना चाहता हूँ
मुझे चेतना से घबराहट होती है !!

४

इस बड़े मकान में मर के क्या होगा,
बैंक में रुपया धर के क्या होगा
क्या होगा सुबह शाम
बगीचे की हवा से
क्या होगा इतनी महंगी दवा से
क्या होगा उड़ते रहने से
क्या होगा तुम्हारे आँगन में
मेले जुड़ते रहने से ?
मारे-मारे फिरते रहना व्यर्थ है,
अवकाश का क्या अर्थ है ?
जी के क्या होगा ?
रूप-माधुरी पी के क्या होगा ?
क्या होगा—
कुछ हो भी गया
तो क्या होता है उससे ?
कम हो जाएँगे क्या
आपके लालच, आपके गुस्से ?
इसीलिए मैं हैरान हूँ,
रात-दिन विचार हूँ
कभी-कभी ध्यान है
कि जड़ हो जाता
सिर फिर जाता
या पड़े-ही-पड़े हो जाता !

ज़रूरत हुई तो
नये सिरे से फिर
रात को जप लेंगे !
ठीक जूह के किनारे की तरह
नहीं हो जाता जब तक
यही खेल चलेगा तब तक—
रात को सूरज माँगना
दिन को तारे
हाय रे, चेतना के ये चोंचले
हमारे !

८

कल आएगी सुबह !
जो लाएगी सुबह, सो मैं जानता हूँ
और तकलीफ़ मुझे
इसी जानने की है
क्यों जानता हूँ इतनी बहुत-सी बातें
क्यों जानता हूँ तमाम आने वाले दिन
क्यों जानता हूँ तमाम आने वाली रातें !
मुझे इस जानने की बड़ी तकलीफ़ है
बड़ी-से-बड़ी तकलीफ़
तकलीफ़ है
थोड़ा-सा जानने के आगे ।
जीना मुश्किल हो गया है
सब कुछ अजीब लगता है मुझे मेरा
उठा के डंडा - डेरा
चला क्यों नहीं जाता मेरा ज्ञान मेरे यहाँ से
जो आ गया है जाने कब, जाने कहाँ से ?
मैंने तो इसे पुकारा नहीं था
न चाहा था मन में
न बुढ़ापे में
न जवानी में
न बचपन में ।
मर जाए तो कुछ मजा आए !

आज माँगा था सहानुभूति का माद्दा ।
लेकिन अब यह माँगना
किससे चल रहा है ?
माँ मर गयी,
पिता बूढ़े हो गये,
भाई असहाय है,
बहन का पति शराबी है,
तकाज़ा मगर प्राणवत्ता का
रोज़-अनुक्षण
हवा में आवाज़ लगा रहा हूँ
दे सकने वाले तत्व
जीवन में नहीं हैं
मगर फिर भी किस भरोसे के साथ
गोया उन्हें जगा रहा हूँ ।

जड प्रतिमा में बन्द यह रहस्य, यह जादू
कितने समझ सके, कितने न समझे—यह कहना कठिन है,
क्योंकि उसे पूजा सब जन ने
भूलकर एक छोटा सत्य यह :
पत्थर न घटता है, न बढ़ता है रंच-मात्र,
मूर्ति बड़ी होती जा रही थी क्योंकि
वे स्वयं छोटे होते जाते थे,
भूलकर एक बड़ा सत्य यह ;
मूर्ति की विराटता ने ढँक लिये वे क्षितिज
देवता ने एक-एक करके जो खोले थे !

आखिर मे एक दिन ऐसा भी आ पहुँचा,
मूर्ति जब बन चुकी थी आसमान
और जन बन चुके थे चूहों-से, मेंढक-से,
छोटे, ओछे, नगण्य !
क्षितिजों के सूर्य की जगह थी वह मुस्कान
जिसमें नही था कोई अपना आलोक-स्रोत !
होकर वे तम मे बन्द
फिर छटपटाने लगे !

धारा है, प्रवाह है
आहों के मेले का हर तरफ उछाह है।

शामिल है आज सब आहों के मेले में
कोई, किसी का, पर, साथी नहीं रेले में—
हर घर घरौंदा है, जाने कब टूट जाय
हर मुख गुब्बारा है, जाने कब फूट जाय

छोड़ो ये गुब्बारे, उठाओ ऊँचा निशान
पहनो यह वरदी और गाओ समवेत गान
लैफ्ट राइट, लैफ्ट राइट—साथ हो जुलूस के
जहाँ भी समाये वहीं पैना सींग ठूँस के।

भूलो अब जय को
जयकारों के हो जाओ
साथी को भूलो, और
नारों के हो जाओ
नींदों से निकलो, और
नींदों में खो जाओ।

किन्तु इस बन्धन का भी एक मोह है
जो छूटने नहीं देता।
कुछ है
कहीं
भीतर...और भीतर
जो टूटने नहीं देता !

तो यह मन
इस तन के भीतर कहीं
किसी अनुमाने
कोने में बैठा
करता है खेल
और हम तमाशा बन जाते हैं !

मैंने यह जाना है
दो का संसार
कितना छोटा-सा है
सिर्फ 'एक' घटने में
कितना टूटा-सा है।

छूटी हुई इकाई को
सारा संसार फिर
उतना
अकेला कर देता है
जितना
वह दो में बन लेता है।

मलयज

भोर

सकल्प की चट्टान पर पाँव टेक
दर्पस्फीत शिराएँ तान
अहिग-नेत्र
रात भर
जिस कठिन इस्पाती कुदाली से
काटता रहा पर्वतों को
वह क्या तेरी आस्था थी ?
भूरे-मटमैले कुहरे-सी
छिन्न-भिन्न प्रस्तर की परतें,
दिशाओं के सीमान्त ढहाता
हर आघात,
चिटखते आकाश की कपकपाहट
अँधेरे के सीने में चुभती
रोड़े-सी
तारों की आहट
क्या केवल साक्षी थी—जनश्रुत
तेरे जुनून की ?
तेरी सतत प्रतीक्षा की धुरी का केन्द्र
पर्वत के पीछे से वह निकली
खिलखिलाती
केवल क्या दूध की नदी थी ?
नहीं !
नहीं !
नहीं !
कुदाली अब भी चलाए जा
चट्टानों मे सोए पंथ अनेकों हैं

महेन्द्रप्रताप

•

वनवस्त

मैं
साँपों के झाबे में रहता हूँ!
भूरे काले चितकबरे साँप
विषैले अविषैले
साँप सपोले सपोलियाँ,
मुझे लीलने को तत्पर
अपना डंक
अचूक
लपलप
जब तब,
मेरे सीने पर
जीने पर
दागते रहते हैं
मुझे टाँकते रहते हैं!
मैं
अहरह
उनका फुफकार
फूत्कार
सुनते-सुनते
बहरा गया हूँ।
मेरी आँखों को
अब कुछ दिखता नहीं,

कोशिश

कुछ बड़ा अगर हो सकता दिवस परीक्षा का !
कुछ कठिन अगर हो सकता मेरे लिए जगत !
मुश्किल है यह
अब तक तो अपने-आप बीतते आये दिन
मैंने सच कहता हूँ, इसमें कुछ नहीं किया
यह कहाँ आ गया बस यों ही चलते-चलते
मैं कितनी दूर निकल आया अपने घर से
धुँधला दिखलाई पड़ता है । बाहर भीतर
कुहरा छाया है जाड़ों की भारी सन्ध्या-सी यह विस्मृति !

पीछे, पीछे, पीछे अपने हटते जाओ,
ओ हटो, हटो जाने दो
पीछे जाने की दो राह मुझे । मैं लौट रहा हूँ
जैसे बैठे-ही-बैठे । उठती जाती है देह ऊर्ध्व में लगता है
कमरे की उजली दीवालें मेरे ऊपर सिमटी आती हैं
दिखती है केवल निब कागज पर जल्दी-जल्दी चलती ।
गत कुछ वर्षों में घुलता जाता तन मेरा
पानी होकर मैं फैल गया हूँ अपनी पिछली नीति पर ।
आता जाता है याद सभी कुछ; एक-एक कर
ठिठक-ठिठक जाते हैं सम्मुख चित्र विगत के
कोई तो मेरे ऊपर मुस्काता है
कोई मुझको गुस्से से घूर देखता है
कुछ मित्र पुराने ऐसे कतरा जाते हैं
जैसे मैं उनसे पूछूँगा, बोलो भाई,
यह भी माना, तुम केवल एक निमिष भर थे
लेकिन फिर भी कुछ तो आखिर कर सकते थे ।
क्या ? पश्चात्ताप ? नहीं, यह मेरा ध्येय नहीं
मेरे जीवन की कोई घटना हेय नहीं
कुछ कर न सका इसका भी मुझको खेद नहीं
लेकिन अब जो करना है उसकी चिन्ता है ।
बन नहीं सका मैं खुद ही अपना उदाहरण
इसलिए कि ताका कर पाऊँ शायद उसको

जो एक बार जन्म लेकर भाई बहन माँ बच्चे बन चुके हैं
प्यार ने जिन्हें गला कर उनके अपने साँचों में हमेशा के लिए
ढाल दिया है
और जीवन के उस अनिवार्य अनुभव की याद
उनकी जैसी धातु हो वैसी आवाज उनमें बजा जाती है

सुनो सुनो, बातों का शोर;
शोर के बीच एक गूंज है जिसे सब दूसरों से छिपाते हैं
—कितनी नंगी और कितनी बेलौस !—
मगर आवाज़ जीवन का धर्म है इसलिए मढ़ी हुई करतालें
बजाते हैं
लेकिन मैं ,
जो कि सिर्फ देखता हूँ, तरस नहीं खाता, न चुमकारता,
न क्या हुआ क्या हुआ करता हूँ ।
सुनता हूँ, और दे दिया जाता हूँ ।
देखो, देखो, अँधेरा है
और अँधेरे में एक खुशबू है किसी फूल की
रोशनी में जो मुख जाती है

एक मैदान है जहाँ हम तुम और ये लोग सब लाचार हैं
मैदान के मैदान होने के आगे ।
और खुला आसमान है जिसके नीचे हवा मुझे गढ़ देती है
इस तरह कि एक आलोक की धारा है जो बाहों में लपेट कर छोड़
देती है और सन्नाटे, मुँह चुराते, टुच्ची-सी आकांक्षाएँ बार-बार
जबान पर लाते लोगों में
वहाँ से मेरे लिए दरवाज़े खुल जाते हैं जहाँ ईश्वर
और सादा भोजन है और
मेरे पिता की स्पष्ट युवावस्था ।
सिर्फ उनसे मैं ज्यादा दूर-दूर तक हूँ
कई देशों के अधमूखे बच्चे
और बाँझ औरतें, मेरे लिए
संगीत की ऊँचाइयों, नीचाइयों में गमक जाते हैं
और ज़िन्दगी के अन्तिम दिनों में काम करते हुए बाप
काँपती साइकिलों पर

स्वर की लहरियों पर
बेहद बल खाती है;
समय का सँपेरा भी
अपने ही रागों में बेसुध है, सोया है,
स्वर के इस टोने में
चेतन ही सोया है;
कैसा यह वशीकरण
कैसी तन्मयता है ?
नागिन भी झूमती
सँपेरा भी झूमता है ।

होना और न होना कोई अर्थ नहीं रखता
जहाँ हर वस्तु सिर्फ हो रही है,
अस्तित्व को खण्ड-खण्ड कर रहा है अनस्तित्व,
और गर्भ में जन्मती है नयी सम्भावना ,

हर शून्य पूर्ण है अनगिनत अभावों से,
रूपातुर सम्भाव्यों से। हाँ एक ना है,
और ना एक हाँ है, जिनका योगफल
हाँ-ना दोनों नहीं है। ठहरे हुए क्षण है
एक बेचैन गति का विशिष्ट रूप।
विशिष्टता बढ जाती है सामान्यता की ओर
नये विशिष्ट को जन्मती।

जन्मती है जो अराजकता हम सबके
व्यक्ति अस्तित्व में और हम सब
आत्म-रक्षा के लिए करते हैं
एक-दूसरे का सामना दुर्दमनीय;
भ्रम जाते है कि हमने कुछ खो दिया है,
हमने कुछ ले लिया है इस भ्रम मे
हम वह नहीं हैं जो थे और जो होंगे;

हम जन्मते हैं एक सामूहिक व्यक्ति को
जिसके साथ और साथ ही जिसके विरोध मे
हम जीते हैं मृत्यु-भय लिये।
अराजकता ढल जाती है स्वयं एक व्यवस्था मे
अचेत हम रहें तो धारण कर हिंस्र रूप,
सचेत हो तो शान्तिपूर्ण रूपान्तर।

रूपान्तर दर्पण मे हर बार,
नये सिरे से अपने से पहचान,
अपने से बातचीत बन गयी
लोगो से बात, और लोगों में भाषण
बना अपने से सम्भाषण,
भीड़ मे अकेला मन, अकेले मे अन्दर
असंख्य चेहरों की भीड़,
एक नीड़-सा मिला

सतीशचन्द्र चौबे

रोशन हाथों की दस्तकें

प्राची की सांझ और पश्चिम की रात
इनकी वयःसन्धि का जश्न है आज
मज़ारों पर चिराग़ बालने वाले हाथ
(जो शायद किसी रूह के ही हों)
ठहर जायें !

नदियों पर दीये बहाने वाले हाथ
(जो शायद किसी नववधू के ही हों)
ठहर जायें !

अंधेरी गलियों में लम्प जलाने वाले हाथ
(जो शायद किसी मज़दूर के ही हों)
ठहर जायें !

सभी रोशनी देने वाले हाथ
मिलें, और कसकर बांध लें एक दूसरे को आज
ताकि यहीं से मारना शुरू करें दस्तकें
विश्व के अंधेरे कपाटों पर
वे मिले-जुले-कसकर-बंधे रोशन हाथ !

सतीशचन्द्र चौबे

रोशन हाथों की दस्तकें

प्राची की सांझ और पश्चिम की रात
इनकी वयःसन्धि का जश्न है आज
मज़ारों पर चिराग़ बालने वाले हाथ
(जो शायद किसी रूह के ही हों)
ठहर जायें !

नदियों पर दीये बहाने वाले हाथ
(जो शायद किसी नववधू के ही हों)
ठहर जायें !

अंधेरी गलियों में लैम्प जलाने वाले हाथ
(जो शायद किसी मज़दूर के ही हों)
ठहर जायें !

सभी रोशनी देने वाले हाथ
मिलें, और कसकर बाँध लें एक दूसरे को आज
ताकि यहीं से मारना शुरू करें दस्तकें
विश्व के अंधेरे कपाटों पर
वे मिले-जुले-कसकर-बँधे रोशन हाथ !

सब कुछ कह लेने के वाद

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है,
तुम उसको मत वाणी देना !

वह छाया है मेरे पावन विश्वासों की,
वह पूँजी है मेरे गूँगे अभ्यासों की,
वह सारी रचना का क्रम है,
वह जीवन का संचित श्रम है,
बस उतना ही मैं हूँ,
बस उतना ही मेरा आश्रय है,
तुम उसको मत वाणी देना ।

वह पीड़ा है जो हम को, तुम को, सब को अपनाती है,
सच्चाई है—अनजानों का भी हाथ पकड़ चलना सिखलाती है,
वह यति है—हर गति को नया जन्म देती है,
आस्था है—रेती में भी नौका खेती है,
वह टूटे मन का सामर्थ्य है,
वह भटकी आत्मा का अर्थ है,
तुम उस को मत वाणी देना !

जैसे गीली रेत
(यह जोलाई की पन्द्रह तारीख है :
बादल का है राज)
—या जैसे, उस फ़ाख़्ता के बाज़ू के अन्दर का रोआँ
कोमल उजला नीला
(कितना स्वच्छ !)
जिसको उस शाम
हमने मारा था !

ये नीले होंट
जो शाम का पूरब हैं आज
क्या कहते हैं ?
सावन की पलकें क्यों
भारी होती जाती है ? यह मौन
टकार
जो क्षितिज-भौंह मे कँपती-सी है
दहला दहला देती मेरा हृदय ।
वह
मोतियों की लूट...कहाँ गयी वह हँसी ?
जहाँ जमीन और आसमान मिल रहे हैं,
वह भौंह
काँप रही है ।

सावन आया है :
खूब समझता हूँ मैं
सावन की ये पलकें
मूँद रही है मुझको ।

देखो, रात
फिसलन से भरी हुई है
(तारे जुगनू होने चले गये हैं :
चाँद, चाँद-सा दिल में है, बस :
दिल, कि बहकती हुई रात है...)
यह रात फिसलन से भरी हुई है ।

शंभूनाथ सिंह

जीवन-लय

शब्द है,
स्वर है,
सजग अनुभूति भी
पर लय नहीं है !
कट गये पर हैं
अगम इस शून्य में,
उल्का सदृश
गिरते हुए मुझको
कहीं आश्रय नहीं है !
थम गये क्षण हैं
दुसह क्षण
अन्तहीन, अछोर निरवधि काल के;
फिर भी मुझे
कुछ भय नहीं है !
एक ही परिताप प्राणों में
सजग अनुभूति
पर क्यों लय नहीं है ?

श्रीकान्त वर्मा

•

पटकथा

पुल पर गुजरती हुई ट्रेन धीमी होती है फिर घिसटती और
सिगनल के पास जाकर रुक जाती है।
खेतों में रेंहट, आँगन में बातचीत
तारघर के पास एक लड़की
फुटबाल के मैदानों में खेल रुक जाते हैं

एक लड़का अखबार लिये सड़क पर आकर चिल्लाता है,
अणुबम पर रोक :
शोक की सभाएँ विवाह-मंडपों में बदल जाती हैं।
तीन बंदर आगे-आगे प्रसिद्ध सड़कों पर शहनाई बजाते हैं।
कोई एक गड्ढे में छिपा हुआ देखता है
जुलूस—उसके अंग-अंग पर अनेक जबानों में छपा हुआ है
अमरीका और रूस।

बनहवास
वह कहता है
मुझे नहीं होता विश्वास
राजकुमारी ताजमहाने के विवाह में
पालकी में बैठे हुए मेंढक उत्साह में
कूद पड़ेंगे नरम घास में।

बादशाह प्यारे गुलामों के साथ घिरे हुए हैं, हाथ में
एक बगैर से।

किसी गृहिणी का वरना किसी लड़के का
ध्यान भंग करता है ।

एक बैरा प्लेटफ़ार्म पर थाली लिये हाथ में
थमती हुई ट्रेन से उतरता है ।
और देखता है सब लोग खोज रहे हैं
एक-दूसरे को शोर में ।
शोर एक दूसरी तरह का अन्धकार है—

जिससे किसी और का हाथ पकड़ लेता हूँ
ऊपर से कहता हूँ
मैं ग़लत हाथों का विजेता हूँ ।
शोर एक दूसरी तरह का अन्धकार है ।

एक द्वार है जो बन्द है
एक जेब में घड़ी
दूसरी में फाँसी लगाने के लिए कमन्द है
सुविधा के लिए नींद की गोली है ।
वह हाथ बढ़ाता और (?) पाता है
पसीने से चिपचिपायी हुई एक चोली है
वह घबराकर किसी और का हाथ पकड़ लेता है ।

यह दूसरी तरह का संसार है
एक ठेकेदार जिसका नेता है
जो भीड़ के कंधों पर चढ़कर
तौल-तौल कर कहता है
मेरे नाम दुनिया के स्त्री-पुरुषों के उधार हैं ।
और फिर आश्वासन देता है
भीड़ के कंधों को सोने से मढ़ाने का ।

सूर्योदय हो या न हो भुट्टे के दाने का
कविताएँ लिखता है
एक और कवि
तालमखाने का

अपने को सुनाता है
बजर महाकाव्य के एक-एक शब्द में रोड़ एक कवि
खप जाता है ।

अपने ओठों से
छुलाकर]
बहते हुए पानी मे झुलाकर
अपने पैर
मैं अनुभव कर रहा हूँ। सब कुछ
बस छू कर
चला जाता है
छला जाता है
आकाश भी
सूर्य से
जो दूसरे दिन
आता नही है
कोई और सूर्य भेज देता है।
विजेता है
कौन
और
किसकी पराजय है—
सारा संसार अपने कामों मे
फँसाये अपनी अँगुलियाँ
उधेड़-बुन करता है।
डरता है
मुझसे मेरा पड़ोस।
मैं अपनी करतूतों का दरोगा हूँ।
नही एक रोजनामचा हूँ
मुझ में मेरे अपराध
हूबहू कविताओं-से
दर्ज है
मर्ज है
जितने
उनमे ज्यादा इलाज है।
मेरे पास है कुछ कुत्ता-दिनों की
यादगें
और बिल्ली-रातों के

मुझे अभी कई कुंडों में
करना है स्नान
अभी कई तहखानों की
करनी है सैर
मेरा सारा शरीर सूख चुका
मगर साबित हैं पैर ।
मैं अपना अंधकार, अपना सारा अंधकार
गंदे कपड़ों की
एक गठरी की तरह
फेंक सकता हूँ ।
मैं अपनी मार खायी हुई
पीठ
सेंक सकता हूँ
धूप में
अपनी-अपनी
आयु के
दाने
बीन
रही हैं
सारे संसार की सभ्यताएँ दिन गिन रही हैं ।
क्या मैं भी दिन गिनूँ ?
अपने निरानंद में
रेंक और मांग और लीद रहे गधे से
मैं पूछकर
आगे बढ़ जाता हूँ ।
मगर खबरदार ! मुझे कवि मत कहो
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ ।
मैं कविताएँ बकता नहीं हूँ ।
मैं बकता नहीं हूँ
कोसते

खड़ी होती है ।
शरीरात के पहले मैं सब कुछ निचोड़ कर
उसको दे जाऊँगा जो भी मुझे मिलेगा । मैं यह
अच्छी तरह जानता हूँ, किसी के न होने से
कुछ भी नहीं होता, मेरे न होने से कुछ भी नहीं
हिलेगा । मेरे पास कुर्सी भी नहीं जो खाली हो ।
मनुष्य वकील हो, नेता हो, संत हो, मवाली हो
—किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता ।
नाटक की समाप्ति पर
आँसू मत बहाओ ।
रेल की खिड़की से
हाथ मत हिलाओ ।

अंधकार का संशय

इस घाटी से कई काफिले गुज़र गये है;
शिखरों को जाने वाले जन अंधकार मे भटक गये हैं;
मैं सब की हड्डी के रखवारे-सा बैठा असफलताएँ नाप रहा हूँ !
मैं घाटी का गिद्ध, समय पर अपनी छाया ढाँप रहा हूँ !!

दिन की छाती चीर यात्राएँ इस घाटी से आयी थी !
रातों गुँथती छायाएँ इस निर्जन में चिल्लायी थी !!
मानव के पैरों की ठोकर खा चट्टानें रिरियायी थी—
आगन्तुक चरणों से घाटी की आत्माएँ घबरायी थी !!

कभी-कभी मैं खुद मानव की आकांक्षा से काँप गया था
किन्तु दूसरे ही क्षण मंडरा
मैं यात्रा को ढाँप गया था !!
मैं घाटी का गिद्ध तीन युग के कंकालों का प्रहरी हूँ !!
मैं इस रहस्यमय घाटी का बूढ़ा राजा
अपनी पीली आँखों से पूरब को देख रहा हूँ !!

दृष्टिहीन हम केवल मिलते रहे
भुजाएँ बढ़ा । जब भी
लौट आये भारी मस्तक
खंडित इन्दु-से बिके हुए
लौट आये थके पाँव अनायास
लौट आयी धँसी आँखें
पंक-पीड़ित कमल वाली मानसर की सिसकियाँ
लौट आयी नसें ढीली
पुरनम धूल की पगडंडियाँ ।
लौट आये
हजारों हाथ
इश्तहार
जूड़ी-ताप. . .
लौट आयी टूटी कमर
टूट जाने दो
लौट आयी बीती उमर
बीत जाने दो
लौट आयीं झपकियाँ—नींद के नीले,
अथाह, अपरिमेय, अनंत सिंधु लादे
अगस्त्यमुखी अगणित पलकों पर
लौट आयीं चिन्तायें—कृष्ण की कातर पुकार से
फैलते वसन-छूहों-सी निकटाते
क्षितिज की झुकी हुई भौंहों पर
खोल दो यह द्वार
दस्तक नहीं देंगे हाथ ।
सखी !
रात
विजन में धुआँ देती
रुकी हुई रेल है
और हम-तुम
बिछी हुई पटरियाँ हैं
...जो कट गयी अभी-अभी कच्ची वह
अपनी ही नींद थी ।

(क) छायावाद के पहले

१. गुरुभक्त सिंह—
मलयानिल, दौल-वाला, पवन

२. जानकी वल्लभ शास्त्री—
अनुरज, अनन्त संसार, मुसकान, भिखारिणी, प्रतीक्षा
अन्विति, बाँसुरी, मेघ-गति

३. माखनलाल चतुर्वेदी—
कैदी और कोकिला, गीतों के राजा, जवानी, दूबों के दरबार में

४. मुकुटधर पाण्डेय—
कुररी के प्रति, ओस

५. रामनरेश त्रिपाठी—
मैं ढूंढता था, हरियाली

६. सियारामशरण गुप्त—
बोध, नेत्रोन्मीलन, नव-जीवन, खिलौना

७. श्रीधर पाठक—
सांध्य अटन

८. हृदयनारायण पाण्डेय—
तिनका

(ख) छायावाद

९. अज्ञेय—
रहस्यवाद, मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ, नाम तेरा, चिन्तामय, उज्ज्वल, हारिल

१०. उदयशंकर भट्ट—
आज जगत की उथल-पुथल में, जीवन नौका, नव निर्माण, जीवन-झांकी, आज का जीवन, समन्वय

११. उपेन्द्रनाथ अश्क—
मरुस्थल से, मूक हृदय की वीणा, दीप जलेगा

१२. जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद—
चाँदनी, तीन कलाकार

१३. जयशंकर प्रसाद—
मधुमय देश, वे दिन, मुझ को न मिला, हृदय का सौन्दर्य, किरण, कनक किरण, वसन्त

१४. तारा पाण्डेय—
आँसुओं का हार, ओ कवि, कैसे हँसूँ, परिचय, मधुर मन

१५. देवराज दिनेश—
जीवन क्या है, काश ! ,बीता हुआ संसार, तभी मरेगा, जवानी !

१६. नरेन्द्र शर्मा—
चाँदनी में नव, मान के बाद रात

६१. नलिन विलोचन शर्मा—
अन्तिम कविता

६२. नरेश मेहता—
समय देवता, एक फाल्गी दिन, विकल्प

६३. नरेश सक्सेना—
रोज शाम

६४. नागार्जुन—
चौराहे के उस नुक्कड़ पर, तालाब की मछलियाँ

६५—नित्यानन्द तिवारी—
नदी न मिले

६६. नेमिचन्द्र जैन—
इस क्षण में जिन्दगी की राह, आज फिर जब तुमसे सामना हुआ

६७. प्रभाकर माचवे—
मैं और खाली चा की प्याली, पालतू

६८. प्रयागनारायण त्रिपाठी—
नदी तट, विदा के क्षणों मे, मकड़ी जाल

६९. प्रयाग शुक्ल—
वसन्त एक, क्रम

७०. प्रवीण—
कालिदास का मेघ

७१. बालकृष्ण राव—
कविता, मणिधर, इतने घने अंधेरे मे भी, एक ने ही पूछा था, प्रश्न व्यर्थ है, चित्रशाला, सजे मण्डप में मैं अकेला

७२. बालस्वरूप राही—
अजन्ता की कलाकृतियों के प्रति, मैं प्रतिरूप तुम्हारा ही हूँ, गीत

७३. भवानी प्रसाद मिश्र—
शब्दों के महल, सुख का दुख, गीत फरोश

७४. भारत भूषण अग्रवाल—
नाग, बीन और मदारी, परम्परा : एक नयी उपलब्धि, असाधारण की चाह, झझावात आता है, दबा हुआ शहर, सूखे की प्रकार, गमले का पौधा, विदेह, कैसी तुम नदी हो, अद्वितीया दूंगा मैं, आने वालों से एक सवाल

७५. मनमोहिनी—
केक्टस की सभ्यता

७६. मलयज—
कहानी, आवा, कुतबनुमा

७७. महेन्द्र प्रताप—
वनवस्त

७८. रघुवीर सहाय—
दुनिया, दे दिया जाता हूँ, शक्ति दो बल दो, हे पिता